सहायक गणों की शुभ नामावली

दिवाकर दिव्य ज्योति के नाम से स्व० श्री जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पंडितरत्न मुनि श्री चौथमलजी महाराज के प्रभावशाली व्याख्यान सीरीज रूप में प्रकाशित कराने के लिए निम्नलिखित महानुभावों ने सहायता देकर अपूर्व लाभ लिया, इसके लिए सहर्ष धन्यवाद है:—

रुपये:—

६००१) श्री श्वे० स्था० जैन महावीर मण्डल उदयपुर
५०१) श्रीमान् सेठ सिरेमलजी नन्दलालजी पितलिया सिहोर की छावनी
५००) „ „ गुलराजजी पूनमचन्दजी मदनगंज
३००) „ „ चौथमलजी सुराणा नाथद्वारा
२५०) { „ „ कुंवर मदनलालजी संचेती ब्यावर
„ „ जीवराजजी कोठारी नसीराबाद }
२०१) „ „ साहबलालजी मेहता फर्म गुलाबचन्द भँवरलालजी मेहता धानमन्डी उदयपुर
२००) „ „ शंभूमलजी गंगारामजी बम्बई फर्म की तरफ से श्रीमान् सेठ केवलचन्दजी सा० चोपड़ा सोजत सीटी
१५१) „ „ चन्दनमलजी मरलेचा शुलाबजार बैंगलोर केन्ट
१५१) „ „ गेंदालालजी मोतीलालजी सा० पोरवाड़ इन्दौर
१५१) „ „ हजारीमलजी चम्पालालजी सगरावत मु० निम्बाहेड़ा (राज०)
१५०) „ „ राजमलजी नन्दलालजी भुसावल

१५०) श्रीमान् सेठ हस्तीमलजी जेठमलजी जोधपुर
१२१) ,, ,, कन्हैयालालजी कोटेचा की धर्मपत्नी सौभाग्यवती सूरजबाई कोटेचा फर्म कन्हैयालालजी चांदमलजी कोटेचा, बोदवड़ (पू० खा०)
१२५) ,, ,, जिनगर अमरचन्दजी इन्द्रमलजी गोतमचन्दजी जैन गंगापुर
१२५) ,, ,, कस्तुरचन्दजी पुनमचन्दजी जैन गंगापुर
१२५) ,, ,, ठेकेदार तोलारामजी भँवरलालजी उदयपुर
१२५) ,, ,, धनराजजी फतहलालजी उदयपुर
१२५) ,, ,, श्रीमती सौभाग्यवती तारादेवी बाई कोटेचा फर्म श्रीमान् मांगीलालजी केसरीचन्दजी कोटेचा भुसावल (पू० खा०)
१०१) ,, ,, रंगलालजी झामड़ नांदूरा वाले की धर्मपत्नी श्रीमती सौभाग्यवती तुलसीबाई नांदूरा (बरार)
१०१) श्रीमान् जिनगर तेजमलजी रोशनलालजी गंगापुर (मेवाड़)
१०१) श्रीमान् सेठ पन्नालालजी बाफणा की पूज्य मातेश्वरी मोहन बाई उदयपुर
१०१) ,, ,, मोतीचन्दजी रतनचन्दजी चोरडिया मु० कटंगी (बालाघाट)
१०१) ,, ,, गणेशलालजी भँवरलालजी पंसारी कोटा
१०१) ,, ,, अमोलकचन्दजी बोहरा फर्म रखबचन्दजी लालचन्दजी जैन रामगंज मण्डी
१०१) ,, ,, जसराजजी मोहनलालजी वोहरा मु० सोरापुर भण्डार

१०१) श्रीमान् सेठ सूरजमलजी सा० बोथरा फर्म कन्हैयालालजी इन्द्रमलजी जैन रामगंज मण्डी

१०१) सौ० पार्वती बाई फर्म उत्तमचन्दजी नवलचन्दजी एण्ड सन्स बरडिया जलगांव (पू० खा०)

१०१) श्रीमान् सेठ रतनलालजी गांग के सुपुत्र पोपटलालजी की धर्मपत्नी श्रीमती शान्तिबाई मु० चींचखेड़ा (तालुका जामेनर (पोस्ट) फतहपुर (पू० खा०)

१०१) ,, ,, गणेशमलजी छत्तीसा बोहरा की धर्मपत्नी श्रीमती सौभाग्यवती पानबाई खामगांव

१०१) ,, ,, मगनीरामजी हणुमतमलजी झामड़ तर्फे श्रीमान् उत्तमचन्दजी रतनलालजी झामड़ मु० खामगांव (बरार)

१०१) ,, ,, रामचन्द्रजी बोथरा अपने स्व० पिताजी सेठ घासीलालजी की स्मृति में तांदला बरार

१०१) ,, ,, धनराजजी हीरालालजी जैन खटोड़ (मेड़सीवाला) मु० पो० आकोला (बरार)

१०१) ,, ,, रामानन्दजी मोतीलालजी जांगड़ा धामणगांव (वरोरा म० प्र०)

१०१) ,, ,, मांगीलालजी चोरड़िया की धर्मपत्नी श्रीमती राजीबाई बरोरा (म० प्र०)

१०१) ,, ,, भेरुलालजी अणतमलजी बरोरा (म० प्र०)

१०१) ,, ,, सागरमलजी राजमलजी बोहरा (चन्दन खेड़ा वाला) बरोरा (म० प्र०)

१०१) ,, ,, गणेशमलजी गुलाबचन्दजी गोठी बरोरा ,,

१०१) श्रीमान् सेठ मोहनलालजी मदनलालजी कोटेचा (अड़ेगांव वाला) वणी (वरार)

१०१) „ „ बालचन्दजी ताराचन्दजी कोटेचा वणी (वरार)

१०१) „ „ चुन्नीलालजी के सुपुत्र स्व० पानमलजी चोरड़िया की धर्मपत्नी श्री ताराबाई वणी (वरार)

१०१) „ „ मुलतानमलजी बलवन्तराजजी खींचा मु० सावर गांव (वरार)

१०१) „ „ [illegible]णालालजी सा० सांखला उदयपुर

१०१) „ „ माणकचन्दजी छगनलालजी गोठी जयपुर

१०१) „ „ जवाहरमलजी मुलतानमलजी बम्ब भुसावल

१०१) „ „ हीरालालजी मोतीलालजी धानेचा बोहरा खामगांव

१०१) „ „ मिश्रीमलजी पारसमलजी कातरेला बैंगलोर सिटी

१०१) „ „ कन्हैयालालजी बछराजजी सुराणा बागलकोट

१०१) „ „ नवरतनमलजी सिंघवी फूलियाकलां

१०१) „ „ मन्नालालजी भेरूलालजी पोरवाड़ (राजाखेड़ी वाला) मन्दसोर

१०१) „ „ लालचन्दजी मोतीलालजी ललवानी तोंडापुर (खानदेश) स्वर्गीय पिताजी प्रतापमलजी की स्मृति में।

१०५) „ „ बसंतीलालजी सुन्दरलालजी जैन पिपलिया

१०१) „ „ देवराजजी जीतमलजी बीजापुर

१०१) „ „ जीवराजजी महता की धर्मपत्नी चन्द्रकला बाई पूना

१०१) श्रीमान सेठ रतनचन्दजी सेसमलजी, बांदरा बम्बई

१०१) „ „ शम्भुमलजी माणकचन्दजी चोरड़िया
मैलापुर मद्रास ४

१०१) „ „ कुन्दनमलजी पुखराजजी लूंकड़ बैंगलोर २

१२१) „ „ ए० म० कानमलजी जैन C/O एम० नथमलजी
एण्ड ब्रादर्स नं० १०३/1 सिपिंगरोड़ बैंगलोर १

१०१) „ „ खींवराजजी चोरड़िया नम्बर ३६ जनरल मुथिया
स्ट्रीट साहूकार पेठ मद्रास-१

१०१) „ „ एल० पूनमचन्दजी जैन (खींवसरा) नयाशहर

* प्रासंगिक शब्द *

—::★:—

स्व पर कल्याणकारी, एवं जगत के चराचर भावों को प्रकाशित करने के कारण संपूर्ण ब्रह्माण्ड में ज्ञान का स्थान सर्व प्रथम ही रहा है, और रहेगा। फिर भी पंच ज्ञान में "श्रुत ज्ञान" का महत्व तो अत्यन्त ही विशद और व्यापक है। क्योंकि सुनाने वाला चाहे एक हो, पर हजारों लाखों श्रोतागण वक्ता के द्वारा ज्ञान श्रवण कर, प्रतिबोध पाकर अपनी उन्नति व कल्याण कर सकते हैं। कहा भी है:— "सोच्चा जाणइ कल्लाणं" आचरण कार्य है, पर श्रवण कारण है, आचरण फल है तो श्रवण वृक्ष है। इत्यादि कारणों से श्रुतज्ञान का महत्त्व अगम्य अपार है।

जीव में कल्याण करने की शक्ति निहित है। यदि उसको श्रवण ज्ञान प्राप्त हो जाय तो वह दबी हुई शक्ति विकसित हो उठती है। भारत में ऐसे अनेकों महात्मा हुए हैं, जिनकी वाणी के बल पर ही भव्यों ने अपना आत्म कल्याण किया है और कर रहे हैं। उन उच्च कोटि के वक्ता मुनि पुंगव समुदाय में हमारे सर्व श्रेष्ठ प्रवचनकार स्वर्गीय जैन दिवाकर पं० मुनि श्री चौथमलजी म० का नाम विश्व विख्यात है।

आपके व्याख्यानों से लाखों जीवों ने प्रतिबोध पाकर आत्मोद्धार किया है। पर आश्चर्य है कि आज आपका शरीर इस धरातल पर नहीं है। फिर भी आपकी वाणी का प्रभाव जनता पर जादु का सा असर डाल रहा है।

इस "दिवाकर दिव्य ज्योति" के द्वारा प्रकाशित भागों को अनेकों स्थानों में स्वाध्याय के रूप में पठन पाठन किये जा रहे हैं।

प्रस्तुत भाग बीसवें में अठारह प्रभावोत्पादक व्याख्यानों का सुन्दर चयन है।

आशा है भव्य वृन्द इन व्याख्यानों से आशातीत लाभ प्राप्त करेंगे।

पं० मुनि श्री प्रतापमलजी म० के शिष्य
मुनि राजेन्द्र (शास्त्री, विशारद)

:: विषय सूची ::

卐

क्रम	विषय			पृष्ठ संख्या
१	कालो हि दुरतिक्रमः	....	....	१
२	सम्यक्त्व की कसौटी	....	....	१६
३	धर्म प्रभाव	....	....	३१
४	लो संग खर्ची रे	....	....	४६
५	आत्मा सो परमात्मा	....	....	६६
६	निष्काम भक्ति	....	....	८१
७	धर्म शरण	....	....	९५
८	गुरु-माहात्म्य	....	....	११०
९	महान् जीवन	....	....	१२७
१०	भावना का महत्त्व	....	....	१४०
११	सतत सतर्क रहो	....	....	१५४
१२	गृहस्थ धर्म	....	....	१६९
१३	त्राता	....	....	१८६
१४	शक्तिकवच पुण्य	....	....	२०१
१५	आत्मा लोचन	....	....	२१५
१६	सुपथ-विपथ गामी	....	....	२२८
१७	शील	....	....	२४२
१८	जाति कुल सम्पन्नता	....	....	२५७

कालो हि दुरतिक्रमः

卐

सम्पूर्ण मण्डलशशाङ्ककलाकलाप—
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रिता स्त्रिजगदीश्वरनाथमेकं,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की महिमा करते हुए आचार्य महाराज ने फर्माया है—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अनन्त शक्तिमान् ऋषभदेव प्रभो! कहां तक आपकी स्तुति की जाय? भगवन्! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ?

प्रभो! आपके गुण सम्पूर्ण मण्डल वाले चन्द्रमा की कलाओं के समूह की भांति उज्ज्वल हैं और वे तीनों लोकों को उल्लंघन करने वाले हैं—वे अनुपम हैं और सर्वत्र व्याप्त हैं। भगवन्! आप तीनों लोकों के अद्वितीय स्वामी हैं। जिन्होंने आपका आश्रय लिया है, उन्हें तीनों लोकों में इच्छानुसार संचार करने से कौन रोक सकता है? स्फटिक मणि के सदृश आपके शुभ्र गुणों ने आपका आश्रय लिया है, अतएव उन्हें रोकने वाला कौन है? किसी की शक्ति नहीं कि उनके यथेष्ट संचार को रोक सके। जैसे सामर्थ्यशाली के सामने

असमर्थ की कुछ नहीं चलती, उसी प्रकार आपके गुणों के सामने कोई भी नहीं ठहर सकता।

ऐसे सर्वगुण सम्पन्न अनन्त ज्ञानी भगवान् ऋषभदेव को बार-बार नमस्कार हो।

श्रीमत् स्थानांग सूत्र में चार प्रकार के जीव बतलाये गये हैं— कोई कोई जीव 'ऊंची दुकान और फीके पकवान' की कहावत को चरितार्थ करते हैं। अर्थात् दिखने में तो चटकीले-भटकीले होते हैं, परन्तु भीतर से मिथ्यात्वी और श्रद्धाहीन होते हैं।

कोई-कोई पुरुष भीतर और बाहर दोनों से स्वच्छ होते हैं। कोई कोई बाहर से तो कुछ भी नहीं, मगर गुणों के निधान होते हैं, शुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं। ऐसे जीवों को कोई बाह्य निमित्त जब मिल जाता है तो अकस्मात् ही उनकी अन्तरात्मा में दिव्य ज्योति का आविर्भाव हो उठता है। जो ज्योति विद्यमान तो थी, मगर निमित्त न मिलने के कारण दबी हुई थी, वह निमित्त मिलने पर प्रकट हो जाती है। इस प्रकार से बोध प्राप्त करने वाले जीव 'प्रत्येक बुद्ध' कहलाते हैं। प्रत्येक बुद्ध जीवों के बोध प्राप्त करने के निमित्त भिन्न भिन्न होते हैं। किसी को आम देखकर, किसी को स्थन्त्र देखकर, किसी को बैल देखकर और किसी को अंगूठी देखकर ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिए कि जिसे जो वस्तु देख कर ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसने वह वस्तु पहले कभी देखी ही नहीं थी। पहली बार ही देखी और इस कारण उसे ज्ञान प्राप्त हो गया। वस्तुएं तो बार-बार देखने

में आती हैं, मगर उनके देखने-देखने में अन्तर होता है। यह बात अनुभव सिद्ध है कि एक ही वस्तु विभिन्न समयों में और विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करती है। वस्तु अपने स्वरूप में जैसी है, वैसी ही है, परन्तु देखने वाले की दृष्टि उसे नाना प्रकार के रंग दे देती है। कहा भी है—

यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः।

अर्थात् देखने वाले की जैसी नजर होती है, उसे उसी रूप में वस्तु दिखाई देने लगती है।

मृतक कलेवर को देखकर मनुष्य के मन में साधारणतया जुगुप्सा का भाव उत्पन्न होता है। वह उसे देख कर नाक सिकोड़ता है, मुंह बिगाड़ता है और उसकी ओर से पीठ फेर लेता है। मगर कुत्ता, कौआ अथवा गिद्ध आदि मांस लोलुप जीव जब उसे देखता है तो उसके मुंह से लार टपकने लगती है और उसे लगता है जैसे बहुत ही स्पृहणीय वस्तु मिल गई है।

अब जरा विचार कीजिए कि कलेवर तो वही है। मनुष्य के लिए और कुत्ता आदि के लिए उसका स्वरूप अलग-अलग नहीं है। देखने वाले बाह्य नेत्र जैसे मनुष्य के हैं, वैसे ही कुत्ता आदि के हैं। फिर क्या कारण है कि एक चित्त पर एक प्रकार का असर पड़ता है और दूसरों के चित्त पर उससे एकदम विपरीत ?

एक वेश्या को कट्टर ब्रह्मचारी देखता है और एक कामी पुरुष भी देखता है। ब्रह्मचारी उसे देख कर विचार करता है—अहा, संसारी जीव किस प्रकार मोह के मारे कुमार्ग की ओर बढ़े चले जाते हैं! क्षणिक तृप्ति के लिए अनमोल मानवभव को नष्ट कर रहे हैं।

पेट पालने के लिए पापों का आचरण कर रहे हैं ! परन्तु क्या कामी पुरुष के मन में भी इसी प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं ? नहीं ।

तो जब बाह्य पदार्थ एक सरीखा है तो उसके निमित्त से अनेक दर्शकों के मन में परस्पर बेमेल विचार क्यों उत्पन्न होते हैं ? इसका कारण है, उपादान की विभिन्नता । विचारों का उपादान स्वयं आत्मा है । उपादान यदि शुद्ध निर्मल है तो किसी भी निमित्त को पाकर आत्मा में प्रशस्त विचार ही उत्पन्न होते हैं और यदि अशुद्ध है तो अच्छे से अच्छा समझा जाने वाला निमित्त भी अशुद्ध विचारों का जनक बन जाता है ।

यही कारण है कि मनुष्य एक स्थिति में जिस पदार्थ को देखकर जरा भी प्रभावित नहीं होता, दूसरी स्थिति में उसी को देख कर अत्यधिक प्राभावित हो जाता है, क्योंकि जैसे विभिन्न आत्मा रूप उपादान एक से नहीं होते उसी प्रकार एक ही आत्मा भी प्रत्येक अवस्था में समान नहीं रहता । जब कर्म पतले पड़ते हैं और इस कारण से आत्मा में विशुद्धता प्रकट होती है तो किसी भी निमित्त से पवित्र भाव उदित हो जाता है । जब तक अन्तर में विशुद्धता नहीं है, तब तक उस पवित्रता का उदय नहीं होता ।

जो महापुरुष प्रत्येक बुद्ध कहलाए और जिन्होंने किसी बाह्य पदार्थ से बोध प्राप्त किया, उन्होंने उस पदार्थ को पहले नहीं देखा था, यह बात नहीं है । उन्होंने, सभव है, उसे कईबार देखा हो, मगर उस समय उनकी आत्मा में जागृति नहीं थी, अतएव उसे देख कर भी वे उससे कुछ प्रेरणा ग्रहण नहीं कर सके थे । मगर जब अन्दर में सत्संस्कार का उदय हुआ, तब वे ऐसी प्रेरणा ग्रहण कर सके ।

राजा करकण्डू प्रत्येक बुद्ध थे। उन्हें बैल के निमित्त से बोध की प्राप्ति हुई। करकण्डू चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन का लड़का था। दधिवाहन की दो रानियां थीं—पद्मावती और धारिणी। धारिणी रानी के उदर से चन्दनबालाजी का जन्म हुआ था, जो आगे जाकर भगवान् महावीर के निकट प्रव्रजित हुई और भगवान् की अनुयायिनी समस्त साध्वियों की नायिका बनी थी। उन्होंने अपने जीवन में अनेक कष्ट सहन किये थे, जिनका उल्लेख करने का यहां अवकाश नहीं है।

दूसरी रानी पद्मावती ने एक बार रात्रि के समय सिंह का स्वप्न देखा और जब उस स्वप्न का हाल राजा से कहा तो वह बोले—स्वप्न में तुमने सिंह देखा है। यह सूचित करता है कि नौ मास बाद तुम्हारे गर्भ से महान् पुण्यात्मा पुत्र का प्रसव होगा।

इस फलादेश को सुनकर पद्मावती को परम प्रसन्नता हुई। वह बड़े ही यत्न और विवेक से गर्भ का संरक्षण करने लगी। चार मास बाद रानी को दोहद उत्पन्न हुआ कि—'मैं हाथी के हौदे पर बैठूँ और महाराजा मेरे ऊपर चंवर ढोरें।"

रानी ने अपने दोहद की बात राजा से कही। राजा ने सोचा—गर्भवती स्त्री की अभिलाषा यदि पूर्ण न की जाय तो गर्भ को हानि पहुँचती है। फिर यह अभिलाषा तो ऐसी है, जिसकी पूर्त्ति करना मेरे हाथ की बात है। इसे शीघ्र ही पूरा कर देना चाहिए।

इस प्रकार विचार कर राजा दधिवाहन ने इसके लिए सारा प्रबन्ध किया। एक दिन, जब शीतल, मन्द और सुगंधित वायु चल रही थी, राजा, रानी एवं सेना आदि परिकर के साथ बाग में गया। वहां जाकर रानी को हाथी के हौदे पर बिठलाया और राजा ने चामर ढोरना आरम्भ किया।

मगर कर्म की गति बड़ी विचित्र है। मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ और ही है। कभी-कभी अदृष्ट मानव के मनोरथ को इतनी कठोरता के साथ कुचल देता है कि चकित रह जाना पड़ता है।

हाथी राजकीय उद्यान में मन्द-मन्द गति से चल रहा था कि इतने में ही जिस वन में वह उत्पन्न हुआ था, वहां की खुशबू हाथी को हवा के जरिये आई। खुशबू आते ही हाथी उन्माद से ग्रस्त होकर उसी तरफ दौड़ा। लाख चेष्टा की गई रोकने की, पर किसी की एक न चली। सैनिक आदि सब पीछे रह गए और हाथी राजा-रानी को लिए हवा हो गया।

कुछ दूर जाने पर राजा को मार्ग में एक बड़ का वृक्ष दिखाई दिया। उसकी एक शाखा मार्ग पर फैली हुई थी। मार्ग उसके नीचे होकर था। उसे देखकर राजा ने कहा– देखो महारानी! सामने वट वृक्ष की शाखा है। उसके समीप पहुँचने पर हम दोनों ही उसे पकड़ लेंगे और अपने प्राणों की रक्षा करेंगे। इस हाथी का कोई भरोसा नहीं है। न जाने कहां लेजाकर पटकेगा, क्या करेगा।

वट की शाखा आई और पूर्व निश्चय अनुसार राजा ने लपक कर उसे पकड़ लिया। वह शाखा से लटक गया। किन्तु रानी कुछ तो गर्भवती होने के कारण फुर्ती न कर सकी और कुछ विचार ही विचार में रह गई। हाथी सर्राटे के साथ निकल गया और रानी उसी पर सवार रह गई। अभी तक राजा के साथ होने से रानी को थोड़ी सान्त्वना थी, मगर अब सान्त्वना प्राप्त करने का कोई आधार ही न रहा। घोर दु:ख से अभिभूत होकर रानी बिलबिलाने लगी। हाथी निरन्तर दौड़ता ही चला गया।

दौड़ता-दौड़ता हाथी जब एक तालाब में जाने लगा तो रानी को प्राणान्तक संकट नजर आया। अकस्मात् हाथी की गति भी धीमी पड़ी और रानी को एक बचने का उपाय सूझ गया। अवसर पाकर वह हाथी की पूछ के सहारे किनारे पर उतर गई और वह आगे चला गया।

रानी एकाकिनी और असहाय है! कहाँ राजा, कहाँ सेना और कहाँ वह आ फँसी! वह 'हे नाथ, रक्षा करो' इत्यादि विलाप करती हुई, समीप के एक पेड़ के नीचे पहुँची और कुछ आश्वस्त होकर पंचपरमेष्ठी मंत्र का ध्यान करने लगी।

होती, होती है धैर्य धर्म की,
संकट में पहचान ।

जैसे सोने की परीक्षा धधकती हुई आग में होती है, उसी प्रकार धैर्य की परीक्षा संकट के समय हुआ करती है।

थोड़ी देर बाद रानी एक पगडंडी के सहारे एक नगर में जा पहुँची। वहाँ चन्दनबालाजी की सत्तियों का चौमासा था। रानी पद्मावती वहाँ स्थानक में पहुँची। सब श्रावकों और श्राविकाओं ने उसका स्वागत किया और वह आनन्दपूर्वक वहाँ रहने लगी। कुछ दिन बाद ही रानी ने दीक्षा अंगीकार करने की अभिलाषा प्रकट की और संघ ने शान के साथ दीक्षा-उत्सव किया। अब महारानी पद्मावती महासती पद्मावती बन गई।

समय पाकर गर्भ बड़ा हुआ और पद्मावती के चेहरे पर गर्भ के लक्षण प्रकट हुए। गुरुणीजी ने एक दिन पूछा—तू दिन पर दिन पीली क्यों पड़ती जाती है? तब पद्मावती ने उत्तर दिया-मैं गर्भवती हूँ।

गुरुणीजी ने संघ के समक्ष यह कैफियत रख दी। साथ ही कहा–भगवान् का आदेश नहीं है कि गर्भवती स्त्री को दीक्षा दी जाय। कहा है—

गुव्विणी बालवच्छा य पव्वावेउं न कप्पइ।

अर्थात् ऐसी स्त्री को दीक्षा देना नहीं कल्पता जो गर्भिणी हो या बहुत छोटे बच्चे वाली हो।

किन्तु यह घटना मेरे अनजान में हुई है। अब क्या करना चाहिए, इस पर संघ विचार करे।

श्री संघ ने कहा—पद्मावतीजी निर्दोष हैं।

यथा समय पर पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे पद्मावती रात में ही श्मशान में रख आई। आखिर पद्मावती यथोचित प्रायश्चित लेकर शुद्ध हो गई और धर्माराधन करने लगी।

उधर उस बालक को श्मशान का भंगी उठाकर ले गया और उसका पालन-पोषण करने लगा। श्मशान की राख लगने से बालक के शरीर में खुजली हो गई, जिसके कारण उसका नाम करकुण्ड पड़ गया। पद्मावती को पता चल गया कि मेरा बच्चा कहां है? अतएव वह समय-समय पर भंगी के घर चली जाती और चुपचाप उसे देखकर लौट आती।

लड़का जब बारह वर्ष का हो गया तो भंगी ने श्मशान के कफन इकट्ठा करने का काम सौंपा। वह यही काम करने लगा।

एक दिन संयोगवश उधर से एक गुरु-चेला निकले। वहां पर बांस के बहुत से पेड़ थे। उनमें एक बांस शुभ लक्षण वाला भी

था। उसे देखकर गुरु ने चेले से कहा इस बांस को जो अपने पास रक्खे तो सात दिन में उसे राज्य की प्राप्ति हो।

उन वांसों में एक ब्राह्मण छिपा हुआ था। उसने गुरु का यह कथन सुन लिया और उस बांस को काट कर ज्यों ही लेजाने लगा कि लड़का दौड़कर आया और बोला-तुम इस बांस को नहीं ले जा सकते। दोनों में आपस में तकरार होने लगी। दो-चार आदमी वहां इकट्ठा हो गए। उनमें से किसी ने कहा—रे छोकरे! क्या तू इस बांस से राज्य लेगा? यदि राज्य लेवे तो इस ब्राह्मण को भी एक गांव दे देना।

लड़के ने यह बात स्वीकार कर ली और उस बांस को लेकर घर वालों को सूचना दिये बिना ही, वहाँ से चल दिया। चलता-चलता वह एक नगर के निकट पहुँचा, जहां का राजा उसी दिन मरा था और उसके बाद राजगद्दी किसको दी जाय, इस विषय में विचार विमर्श हो रहा था। आखिरकार यह निश्चित किया गया कि हथिनी को सजाकर उसकी सूंड में माला दी जाय और वह जिसके गले में माला डाल दे, उसीको राजगद्दी दे दी जाय।

हथिनी सीधी नगर के बाहर गई और जिस पेड़ के नीचे करकण्डु सो रहा था, वहीं पहुँची। जाते ही उसने गले में माला डाल दी। यही नहीं, उसने सूंड से उठा कर उसे अपनी पीठ पर बिठा लिया।

लोगों ने कहा—इसकी जाति क्या है?

दूसरे बोले— इसकी जाति राजा है।

इस प्रकार सुसज्जित करके करकन्डु को नगर का राजा बना दिया गया। वह आनन्दपूर्वक राजा बना दिया गया।

उस समय राजा दधिवाहन और इस नगर के राजा के बीच लड़ाई चल रही थी। लोगों ने सोचा करकंडु राजा वीर है और इस समय यदि युद्ध किया जाय तो अवश्य ही विजय प्राप्त होगी। बस, सेना को तैयार होने का हुक्म दिया गया। जब सेना चम्पा नगरी के सन्निकट पहुँची तो साध्वी पद्मावती वहाँ जा पहुँची।

बात यों हुई कि पद्मावती को जब यह पता चला कि मेरा लड़का करकण्डु, राजा बन कर अपने पिता के साथ युद्ध करने जा रहा है तो उन्हें विचार आया—यह युद्ध सभी दृष्टियों से अनुचित है। प्रथम तो पिता और पुत्र के बीच मार-काट होना अत्यन्त अवांछनीय है, दूसरे हिंसा की दृष्टि से भी अनाचरणीय है। वृथा ही हजारों मनुष्यों के प्राण चले जाएंगे। न जाने कितनी महिलाएं विधवा हो जाएँगी और कितने बालक अनाथ हो जाएंगे! प्रयत्न करके यह युद्ध टाला जा सकता है तो अवश्य ही टालना चाहिए।

भाइयो! जब से इस भरत क्षेत्र में राज्य शासन की पद्धति प्रचलित हुई है, तभी से युद्ध की परम्परा भी चालू हो गई है। मगर युद्ध से किस प्रकार विनाश होता है यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। पिछले दिनों यूरोप में जो युद्ध छिड़े, उनमें करोड़ों आदमी मौत के घाट उतर गए और अपरिमित सम्पत्ति की हानि हुई। प्राचीन काल के युद्धों में तो सैनिक ही आपस में लड़ते थे और वही मारे जाते थे, मगर अब तो वह बात भी नहीं रही है। अब हवाई जहाजों से बम बरसाए जाते हैं—सेना पर भी, नगरों [illegible]र भी और देहात में भी। वहां बेचारे निरपराध नागरिक भी मारे [illegible] हैं। आश्चर्य की बात है कि लोग अब भी बात-बात में [illegible] का सहारा लेने को तैयार हैं। विज्ञान ने इतनी उन्नति की [illegible] लोगों की सुबुद्धि की तनिक भी तरक्की नहीं हुई। मनुष्य

अब भी उसी प्रकार खूंख्वार बना हुआ है हिंसक जानवरों की तरह एक दूसरे को गुर्राता है और शान्ति के साथ नहीं रहता। अगर मनुष्य एक दूसरे के अधिकारों का आदर करे और न्याय संगत मार्ग का ही अनुसरण करे तो युद्ध जैसे विनाशकारी आयोजन की आवश्यकता ही न रहे।

मनुष्य हिंसा का आश्रय लेकर स्वयं शान्ति प्राप्त करना चाहता है और जगत में शांति की स्थापना की बात करता है। मगर इससे बढ़ कर नादानी की दूसरी बात क्या हो सकती है? शान्ति स्थापना के लिए हिंसा का प्रयोग करने से कदापि शान्ति स्थापित नहीं हो सकती, हां जो बची-खुची शान्ति है, वह भले ही नष्ट हो जाय। हिंसा में अशान्ति की भयानक ज्वालाएं छिपी हैं। उससे शान्ति कैसे मिलेगी? वास्तविक शान्ति तो अहिंसा में ही निहित है। अहिंसा की शीतल छाया में ही शान्ति लाभ हो सकता है। यही कारण है कि जगत के समस्त मनीषी समय-समय पर अहिंसा की आवाज बुलन्द करते आए हैं और कर रहे हैं और जब भी अवसर आता है, वे हिंसा का विरोध करते हैं।

तो साध्वी पद्मावती ने युद्ध की हिंसा को रोकने के लिए स्वयं समर भूमि की ओर प्रस्थान किया। गुरुणी की आज्ञा प्राप्त करके वह चली और युद्ध स्थल में पहुँची। पहले वह करकण्डु से मिली, क्योंकि आक्रमणकारी वही था। वही अपनी फौज लेकर चढ़ आया था। साध्वीजी ने उसे अपना परिचय दिया और उसके जन्म का समग्र वृतान्त बतलाया। अन्त में कहा—राजन्! आज तुम अपने पिता के साथ युद्ध करने को तैयार हुए हो। किन्तु जरा विचार कर देखो कि युद्ध का परिणाम क्या होगा? कदाचित तुम विजयी हो गये तो भी क्या पिता को गंवा कर सुखी हो सकोगे? वह विजय तुम्हारी सच्ची विजय होगी? कदापि नहीं।

करकण्डु नहीं जानता था कि महाराजा दधिवाहन मेरे पिता हैं। साध्वीजी के कहने पर उसे पता चला और उसका हृदय पितृ-भक्ति तथा श्रद्धा से भर गया। उसने अपनी ओर से आक्रमण खत्म कर देने का वायदा कर दिया। तब पद्मावती, दधिवाहन के पास पहुँची। उनको करकण्डु का परिचय दिया। उसे भी अपने वीर पुत्र का परिचय पाकर असीम हर्ष हुआ। दोनों ओर से युद्ध बन्द होने की घोषणा हो गई। पिता-पुत्र अत्यन्त स्नेह के साथ मिले। वैरभाव नष्ट हो गया। कुछ समय के पश्चात राजा दधि-वाहन ने दीक्षा अगीकार करली और करकण्डु दोनों राज्य का अधिपति हो गया।

एक बार करकंडु की गोशाला के पशु चरने के लिए जा रहे थे तो एक बछड़े पर उसकी दृष्टि पड़ी। बछड़ा बड़ा ही सुन्दर था और कूदता-फांदता जा रहा था। अचानक करकंडु के हृदय में उसके प्रति प्रेम उमड़ पड़ा। उसने आदेश दिया कि इस बछड़े की माता को दुहा न जाय और दूध इसी बछड़ें को पिला दिया जाय। बछड़ा खूब हृष्ट-पुष्ट होकर सांड बन गया तो उसका नाम दूधमल सांड पड़ गया। मगर संसार अनित्य और यह जीवन भी सदा एक सरीखा नहीं रहता। जगत् का प्रत्येक पदार्थ कण-कण में पलटता रहता है। दो समय तक भी किसी की अवस्था एक-सी नहीं रहती। जिस यौवन के नशे में प्राणी उन्मत्त हो जाता है और दूसरों को तुच्छ समझता है, वह अधिक दिन नहीं ठहरता। जैसे मध्य आकाश में पहुँचते ही सूर्य ढलने लगता है, वैसे ही यौवन भी अपने शिखर पर पहुँच कर वृद्धावस्था की ओर अग्रसर हो जाता है और यौवन का क्षीण होने लगता है। अतएव विवेकी जन किसी भी स्थिति अभिमान नहीं करते। वे जगत् की निरन्तर परिवर्तनशीलता को अपनी दृष्टि के सन्मुख रखते हैं।

तो करकंडु राजा का सांड भी यौवन के अनन्तर वृद्धावस्था में प्रविष्ट हुआ और धीरे-धीरे उसका सारा शरीर शिथिल पड़ गया। एक दिन ऐसा भी आया कि वह अपने शरीर को भी सँभाल न सका और जमीन पर पड़ गया। पड़ने के बाद उठने की चेष्टा करने पर भी और सारी ताकत लगा देने पर भी वह उठ न सका। उस स्थिति में भी राजा ने उसे देखा। पूछने पर लोगों ने उसे बतलाया कि बुड्ढा होने के कारण यह पड़ा है-उठने में असमर्थ है।

राजा विचार में पड़ गया। उसने उदास चित्त होकर पूछा-अब क्या होगा ?

लोगों ने कहा—जीवन की अन्तिम स्थिति है मृत्यु। अब मृत्यु ही उसके लिए शरण है।

मृत्यु का नाम सुनते ही राजा का हृदय काँप उठा। वह उसी समय अपने महल में आया और सब वैद्यों को बुलाकर बोला-मृत्यु की कोई दवा हो तो दीजिए।

वैद्य इस माँग पर चकित और अप्रतिभ हो गए। उन्होंने कहा महाराज ! दवा तो बीमारी की होती है; मृत्यु कोई बीमारी नहीं। यह तो जिन्दगी का अन्तिम स्वरूप है। जीवन की दूसरी बाजू है। जैसे दिन के बाद रात्रि का आगमन अनिवार्य है। संसार की कोई भी शक्ति उसे रोक नहीं सकती। इस भूतल पर असंख्य बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्त्ती हो गए, मगर उनमें से कोई भी मृत्यु के आक्रमण से बच नहीं सका। सब कूच कर गये और हम लोग भी कूच कर जाएँगे। हमारे पास मौत का कोई इलाज नहीं है।

राजा ने विचार किया—वैद्य यथार्थ ही कह रहे हैं। आज तक कोई भी मृत्यु के पास से नहीं बच सका तो अकेला मैं ही कैसे बच जाऊँगा ?

पुरन्दरसहस्त्राणि, चक्रवर्त्तिशतानि च ।
निर्वापितानि कालेन, प्रदीपा इव वायुना ॥

दशों दिशाओं में आलोक की उज्जवल रश्मियाँ विकीर्ण करने वाला दीपक हवा के एक झोंके से समाप्त हो जाता है। उसे तनिक भी देर नहीं लगती। इसी प्रकार मौत इस जीवन का क्षण भर में अन्त कर देती है। इसने सहस्त्रों देवेन्द्रों को और शत-शत चक्रवर्तियों को भी निगल लिया है तो औरों का क्या कहना है ! सच है–

दुनिया से चलना है तुझे, चाहे आज चल या कल ।
अनमोल वक्त हाथ से, जाता है पल पै पल ॥ टेर ॥

आता है श्वास जिसमें, प्रभु रटना हो तो रट ।
चेत चेत उमदा आई, बहार की फसल ॥ १ ॥

हुआ दिवाना ऐश में, आखिर का डर नहीं ।
सर पर तेरे हमेशा रहे, घूमता अजल ॥ २ ॥

निश्चित है कि इस दुनिया में आकर कोई टिका नहीं रह सकता। जो आया है, उसे जाना ही पड़ेगा ! और यह निश्चित नहीं कि कब चल देना पड़ेगा ! आज और अभी-अभी भी मौत का हमला हो सकता है। अतएव भविष्यत् का भरोसा न करके जब तक श्वास आ रहा है, तब तक प्रभु के नाम का स्मरण कर लेना चाहिए। [illegible]मा के कल्याण की कुछ सामग्री जुटा लेना चाहिए। कदाचित् कोरे [illegible] गये तो परभव में क्या होगा ?

इस प्रकार विचार कर राजा संसार से एकदम विरक्त हो गया। उसने उसी समय अपने पुत्र को राजसिंहासन सौंपने की घोषणा कर दी। यथासमय वह आत्म-कल्याण के हेतु जंगल में चला गया।

तो राजा करकंडु को सांड़ के निमित्त से बोध की प्राप्ति हुई। वह प्रत्येक बुद्ध कहलाए। साधना के द्वारा उन्होंने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त किया और काल पर विजय प्राप्त करके अजर-अमर हो गए।

ब्यावर
१७-८-४१

सम्यक्त्व की कसौटी

卐

रक्तेक्षणं समद कोकिल कण्ठनीलं,

क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ।

आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशंक,

स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं- हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अनन्तशक्तिमान् पुरुषोत्तम श्री ऋषभ देव भगवन्! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाए ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

प्रभो ! कोई मनुष्य जंगल में भटक रहा हो और वहाँ उसे सर्प का सामना हो जाय। सर्प बड़ा ही भयंकर हो। उसके नेत्रों से लाल-लाल ज्वालाएँ निकल रही हों। उसका कंठ मतवाली कोकिला के कंठ के समान काला हो। क्रोध से प्रचण्ड बन रहा हो। ऐसा सर्प अपने फण को ऊँचा उठाए सामने की ओर आ रहा हो। ऐसे विकट संकट के अवसर पर यदि वह भक्त आपके नाम का शुद्ध हृदय से स्मरण करे और ॐ उसभ, ॐ उसभ, ॐ उसभ का जाप करे

तो वह भयानक विषधर भी उसके लिए रज्जु के समान बन जाता है। उस पर सर्प का कोई जोर नहीं चलेगा। वह निश्शंक होकर आगे बढ़ जाएगा !

यह भगवान् के नाम का अलौकिक प्रभाव है। भगवान् के नाम में जो चमत्कार जनक शक्ति है, वह बुद्धि से समझी नहीं जा सकती है, उसे तो श्रद्धावान् जन ही अनुभव कर सकते हैं ! जिनके नाम में इस प्रकार की अद्‌भुत शक्ति है, उन नाभिनन्दन, जगद्‌वन्दन, पुरुषोत्तम, सर्वोत्तम आदि देव को मेरा वार-वार नमस्कार हो।

भाईयो ! इस स्तुति में सप का उल्लेख किया गया है, क्योंकि सर्प का विष अकसर प्राणों को हरण कर लेता है, मगर ज्ञानी जनों का कथन है कि सर्प के जहर से भी अधिक जहर मिथ्यात्व में होता है। मिथ्यात्व का जहर अत्यन्त ही भयानक है। सर्प का विष एक ही भव में मृत्युजनक होता है और अनुकूल उपचार हो जाय तो नहीं भी होता, किन्तु मिथ्यात्व का विष भव-भव में मृत्यु का कारण बनता है। वह न जाने कितने दीर्घ काल तक पीछा नहीं छोड़ता। सर्प का विष मंत्र से और जड़ी-बूटी से उतारा जा सकता है, मगर मिथ्यात्व के विष को दूर करने के लिए न तो कोई मंत्र है और न कोई जड़ी-बूटी ही है। उसके असर से जीव को चौरासी के चक्कर में घूमना ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त दोनों में एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि सर्प के विष का प्रभाव शरीर पर ही पड़ता है, जब कि मिथ्यात्व का विष आत्मा को प्रभावित करता है। इस प्रकार मिथ्यात्व-विष की उग्रता और प्रचण्डता को समझ कर उसे बचने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए। कहा भी है :—

मिथ्यात्वं परमो रोगो, मिथ्यात्वं परमं तमः ।
मिथ्यात्वं परमः शत्रु मिथ्यात्वं परमं विषम् ॥

शारीरिक और मानसिक रोग अनेक हैं। कहावत प्रसिद्ध है— शरीरं व्याधि मन्दिरम्, अर्थात् यह शरीर नाना प्रकार की

व्याधियों का घर है। मगर मिथ्यात्व उन सब में बड़ी व्याधि है। सघन मेघों से आच्छादित अमावस्या की रात्रि का अंधकार अत्यन्त गहन होता है, उसमें मनुष्य को कुछ भी दिखाई नहीं देता, किन्तु मिथ्यात्व का अन्धकार तो उससे हजारों-लाखों गुणा गहन होता है। मिथ्यात्व का अन्धकार जब अन्तरात्मा में छा जाता है तो आन्तरिक नेत्रों की ज्योति भी बुझ जाती है। उससे भी सत पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होते। अतएव मिथ्यात्व परम तम है—संसार में सब से बड़ा अंधकार है।

अहित उत्पन्न करने वाला और हित का विघात करने वाला शत्रु कहलाता है। संसार में अनेक लोगों के अनेक शत्रु होते हैं। जिसके निमित्त से किसी का कुछ अनिष्ट हुआ कि वही उसका शत्रु बन जाता है। मगर मिथ्यात्व से बढ़ कर कोई शत्रु नहीं हो सकता। बाह्य शत्रु बाहर होते हैं और उनसे सावधान रह सकते हैं, मगर मिथ्यात्व शत्रु अन्तरात्मा में ही घुसा रहता है। उससे सावधान रहना कठिन है। वह किसी भी समय, बल्कि हर समय हमला करता रहता है। बाह्य शत्रु अवसर देखकर जो अनिष्ट करता है, उससे भौतिक हानि ही होती है, मगर मिथ्यात्व आत्मिक सम्पत्ति को धूल में मिला देता है। वास्तव में इससे बढ़ कर शत्रु कोई हो ही नहीं सकता। अन्य शत्रु अधिक से अधिक प्राण हरण कर सकता है, धर्म को नहीं छीन सकता किन्तु मिथ्यात्व का जब जोर होता है तो धर्म का भी विनाश हो जाता है।

मिथ्यात्व परम विप है, यह बात तो अभी कह ही चुके हैं।

मिथ्यात्व के वशीभूत होकर जीव विपरीत श्रद्धा वाला बन जाता है। वह असत् को सत और सत् को असत् मानने और जानने लगता है। जैसे पित्तज्वर से ग्रस्त मनुष्य मधुर रस को कटुक

अनुभव करता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के प्रभाव से जीव सच्चे देव को कुदेव, सच्चे गुरू को कुगुरु और सच्चे धर्म को कुधर्म समझता है। साथ ही मिथ्या देव, गुरु और धर्म को समीचीन समझता है और इस कारण अहित के मार्ग पर ही अग्रसर होता है।

वास्तविकता यह है कि मिथ्यात्व पापों में सबसे बड़ा पाप है, शापों में सबसे बड़ा शाप है और तापों में सबसे बड़ा ताप है। वह समस्त कर्मों का जनक है।

यथार्थ तत्त्व पर श्रद्धा न होकर विपरीत श्रद्धा होना मिथ्यात्व कहलाता है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न होता है, जो जीव इन कर्मों का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम कर डालता है, उसके मिथ्यात्व का अन्त आ जाता है। मिथ्यात्व के नष्ट होने पर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर सच्ची श्रद्धा एवं प्रतीति करना सम्यक्त्व कहलाता है।

शुद्ध सम्यकत्ववान् जीव कुगति में नहीं जाते, जब कि मिथ्यात्वी जीव प्रायः घोर नरक की यातनाएँ सहन करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव मुक्ति पथ पर विचरण करते हैं।

जो राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं तथा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, ऐसी आत्माएँ सुदेव हैं। पंच महाव्रतधारी कनक-कामिनी के त्यागी तथा जिनप्ररूपित धर्म-चारित्र का पालन करने वाले अनगार हमारे गुरु हैं। और सर्वज्ञ वीतराग भगवान द्वारा भाषित दयामय धर्म ही हमारा इष्ट धर्म है। इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति समकित कहलाती है।

जब आत्मा में सम्यक्त्व का उदय होता है तो अनेक प्रकार के सात्विक सद्भाव उत्पन्न हो जाते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय न रहने से

आत्मा में एक प्रकार की अनिर्वचनीय शान्ति उत्पन्न होती है, जिसे प्रशमभाव कहते हैं। वस्तु स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान हो जाने से वह जीव सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, बल्कि उदासीन वृत्ति से वर्ताव करता है। वह मोक्ष की ओर उन्मुख हो जाता है। उसका हृदय अत्यन्त मृदु बन जाता है, अतएव किसी भी दीन दुखी जीव को देखता है तो करुणा का स्रोत प्रवाहित होने लगता है। वह आत्मा, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप आदि भावों पर अटल विश्वास रखने के कारण परम आस्तिक होता है।

सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर सच्ची श्रद्धा रखने वाले ही सच्चे श्रावक हैं। श्रावक स्वप्न में भी मिथ्यात्व का सेवन नहीं करते। मोक्षार्थी जीव को मिथ्यात्व से सदा के लिए मुँह मोड़ लेना चाहिए। जीव को जब तक मिथ्यात्व के पाप से छुटकारा नहीं मिलता, तब तक वह सम्यक्त्व-रत्न की प्राप्ति नहीं कर सकता और न मोक्षमार्ग के सन्मुख ही हो सकता है।

सम्यग्दृष्टि भलीभाँति जानता है कि मिथ्यात्व के कारण ही यह आत्मा, अनादि काल से, जन्म जन्मान्तर में, नाना प्रकार के कष्ट सहन कर रही है। मिथ्यात्व के हटते ही आत्मा मोक्ष की अधिकारी हो जाती है और मोक्षमार्ग पर चलने योग्य बन जाती है। आत्मा स्वभाव से सर्वगुणसम्पन्न तथा दिव्य प्रकाश वाली है, किन्तु मिथ्यात्व के कारण अपना प्रकाश फैलाने में सर्वथा असमर्थ बन रही है। अतएव आत्मा के उद्धार का या आत्मा के शोधन का सर्व प्रथम सोपान सम्यक्त्व को प्राप्त करना ही है।

श्री ठाणांग सूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के पुरुष बतलाए हैं। उनमें से प्रथम श्रेणी में वे हैं जो भगवान् के वचनों पर पूर्ण

रूपेण श्रद्धा रखते हुए स्वप्न में भी उनमें कभी असत्यता की आशंका नहीं करते।

भगवान् वीतराग के वचन यथार्थ ही होते हैं, क्योंकि वे सर्वज्ञ के मुख से निकले हुए हैं। जो महापुरुष सर्वज्ञ होने के कारण समस्त वस्तुओं के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानते हैं और वीतराग होने से किसी को धोखा देने या बहकाने के लिए या स्वार्थ से प्रेरित होकर अन्यथा भाषण नहीं करते, उनके वचन मिथ्या नहीं हो सकते। वहां मिथ्या भाषण करने का कोई कारण नहीं है। अतएव मुमुक्षु जीव को चाहिए कि वह वीतराग के वचनों पर लेश मात्र भी सन्देह न करे और अनिश्चल विश्वास रख कर उन्हीं के अनुसार प्रवृत्ति करे।

यद्यपि अल्पज्ञ अवस्था में, वस्तु स्वरूप के विषय में शंका होना स्वाभाविक है और वह हुआ ही करती है, किन्तु वह शंका श्रद्धा पूर्वक होनी चाहिए। उस शंका के गर्भ में अविश्वास नहीं छिपा होना चाहिए। गौतम स्वामी चार ज्ञान के धारक हो करके भी भगवान् के समक्ष अनेक शंकाएं करते थे और भगवान महावीर उनका समाधान किया करते थे। तो क्या गौतम स्वामी दृढ़ सम्यक्त्वी नहीं थे? अवश्य सम्यक्त्वी थे, पर उनकी शंकाओं में अश्रद्धा का सन्मिश्रण नहीं होता था वे भगवान् के वचनों पर पूर्ण एवं अटल श्रद्धा रखते हुए, विशेष निर्णय के लिए, जिज्ञासा से प्रेरित होकर शंका करते थे। इस प्रकार की शंका करने से सम्यक्त्व दूषित नहीं होता। जिस शंका में अश्रद्धा मिली रहती है, तत्त्व की सचाई पर जहां विश्वास नहीं होता, वहीं सम्यक्त्व दूषित होता है। हम अल्पज्ञों को भगवान के वचनों पर अश्रद्धामूलक शंका करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ के वचनों में शंका का न कोई कारण है और न कोई गुंजाइश ही है।

अगर कोई शास्त्रीय विषय सूक्ष्म, गहन अथवा जटिल हो और हमारे मस्तिष्क में न आता हो, तो भी उसे यथार्थ ही मानना चाहिए और उसकी यथार्थता के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने बहुत सुन्दर पथ प्रदर्शन कर दिया है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हयन्ते ।
आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राह्यं, नान्यथावादितो जिनाः ॥

अर्थात वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित सूक्ष्म तत्त्व कुछ ऐसे भी होते हैं जो हम अल्पज्ञों की बुद्धि द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते और तर्क द्वारा उनमें बाधा भी नहीं दी जा सकती, ऐसे तत्त्वों को भगवान् की आज्ञा होने से ही अर्थात् आगम कथित होने से ही स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि जिन कदापि अन्यथावादी नहीं होते। जिन महात्माओं ने अज्ञान एवं राग-द्वेष को पूरी तरह जीत लिया है, उनके असत्य भाषण का कोई कारण नहीं हो सकता।

कदाचित् मिथ्यात्व से ग्रस्त कोई अश्रद्धालु व्यक्ति कुतर्क करके सत्य पथ से विचलित करने का प्रयास करे तो भी दृढ़प्रतिज्ञ एवं शुद्ध श्रद्धावान् बना रहना चाहिए। उसे स्पष्ट कह देना चाहिये कि वक्ता की निर्दोषता पर वचन की निर्दोषता निर्भर है। जो वक्ता वीतराग है, वह सदोष वचनों का प्रयोग कर ही नहीं सकता। संभव है, कोई तत्त्व हमारी समझ में आवे और कोई न आवे, तथापि सर्वज्ञ ने जो कहा है, वह सत्य है और शंका से परे है। यही तथ्य श्रीमद् आचारांगसूत्र में इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।

तमेव सच्चं नीसंकं
जं जिणेहि पवेइयं

वही सत्य है और वही असंदिग्ध है, तीर्थङ्करों ने जिसका प्ररूपण किया है।

शुद्ध श्रद्धावान् पुरुष ही स्व-पर का कल्याण करने में समर्थ होता है। जिसके हृदय में श्रद्धा नहीं है और जो कभी इधर और कभी उधर लुढ़कता रहता है, वह सम्पूर्ण शक्ति से, पूरे मनोबल से साधना में प्रवृत्त नहीं हो सकता और पूर्ण मनोयोग के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। सफलता श्रद्धावान् को ही मिलती है।

एक मनुष्य किसी देवालय में प्रतिदिन दीपक रक्खा करता था। ऐसा करते-करते उसे कई दिन हो चुके थे। अकस्मात एक दिन किसी सम्यक्त्वी पुरुष के साथ उसकी भेंट हो गई। सारी बात सुनकर उस सम्यक्त्वी ने उस भूले हुए प्राणी को उपदेश दिया और जिनप्ररूपित धर्ममार्ग का दिग्दर्शन कराया। उसने सच्चे देव के स्वरूप को भलीभाँति विवेचन करके समझाया। उसके विवेचन को सुनने से उस भावुक प्राणी के हृदय में सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उसी दिन से उसने दीपक जलाना बंद कर दिया और धर्मध्यान में तत्पर रहने लगा।

संयोग की बात ! कुछ दिन बाद दैववशात् उसके बच्चे वगैरह बीमार हो गए। तब कई लोगों ने उसे बहुत बुरा-भला कहा और यह भी कहा कि यह सब देवालय में दीपक न जलाने का ही फल है। अगर अब भी अक्ल ठिकाने न आई तो अभी और मजे चखने होंगे। अभिप्राय यह कि उस बेचारे को लोगों ने बहुत

परेशान किया और भरसक चेष्टा की कि वह पथविचलित हो जाय, किन्तु अब वह सच्चे देव का परमोपासक था कोई भी उसे पथभ्रष्ट न कर सका। उसके चित्त में क्षण भर के लिए भी दुर्बलता उत्पन्न नहीं हुई। सब लोग हार मान कर बैठ गए और सत्य की विजय हुई। उसके बाल-बच्चे स्वस्थ हो गए। कहने का मतलब यह है कि वह व्यक्ति अपनी सच्ची श्रद्धा पर अटल रहा। उसने अपनी आत्मा का उद्धार करते हुए कई प्राणियों को सच्ची राह दिखलाई।

भाइयो! अज्ञानी प्राणी कई प्रकार के बहमों के शिकार हो रहे हैं। किसी के शरीर में थोड़ी सी बाधा-पीड़ा उत्पन्न हुई नहीं कि वे उसे दैवी बाधा समझने लगते हैं। कोई भूत प्रेत की करामात मानकर बीमारी का ठीक ठीक इलाज नहीं करवाते और फिर उसका अनिष्ट परिणाम भोगते हैं। मगर जब तक पुण्य सिकन्दर है तब तक किसी भी देवी-देवता, भूत-प्रेत आदि का जोर नहीं चल सकता।

मनुष्य को समझना चाहिये कि सत्य क्या है और असत्य क्या है? अगर सत्यासत्य का निर्णय न किया जाय तो मनुष्य के मस्तिष्क का मूल्य ही क्या है? उसका उपयोग ही क्या है? मस्तिष्क की सबसे बड़ी उपयोगिता स्पष्ट यही है कि सत्य और असत्य का विश्लेषण किया जाय और असत्य को त्याग कर सत्य को स्वीकार किया जाय। यही मिथ्यात्व का त्याग है और यही सम्यक्त्व का लक्षण है।

मगर सच्ची श्रद्धा पर अचल रहना साधारण बात नहीं है। रले ही पुरुष ऐसे होते हैं जो अपनी आन पर अटल रह कर नाना प्रकार के उपसर्ग एवं परीषह सहन करके भी परीक्षा में सफल

होते हैं । दृढ़ श्रद्धावान् पुरुष था कार्तिक सेठ, जिसकी श्रद्धा प्रशंसनीय है ।

किसी नगर में एक धर्मात्मा राजा राज्य करता था। उसी नगर में कार्तिक नामक धनवान सेठ भी निवास करता था। वह सच्चा श्रावक था। वह सच्चे देव, गुरु और धर्म की उपासना में सदा तत्पर रहता था.मगर मिथ्यात्व के सेवन से दूर ही रहता था।

एक बार उस नगर में एक हठी योगी आया और यह प्रतिज्ञा करके अनशन करने लगा कि जब तक समस्त नगर निवासी मेरे चरणों का स्पर्श करके नमन न करेंगे, तब तक मैं भोजन ग्रहण नहीं करूँगा।

धीरे-धीरे प्रायः सभी लोग उस हठाग्रही के दर्शन कर आए, परन्तु कार्तिक सेठ नहीं गया। आप जानते हैं कि संसार में शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा मिले जिससे ईर्षा करने वाला कोई न हो। प्रायः किसी न किसी गुण से ईर्षा करने वाले मिल ही जाते हैं। अगर कोई सज्जन है तो दुर्जन उसकी सज्जनता से ईर्षा करते हैं। धार्मिक है तो अधार्मिक उससे जलते हैं। उदार है तो वह कजूंसों के कोप का भाजन बनता है। तो कार्तिक सेठ यद्यपि धर्म और नीति के अनुसार जीवन व्यतीत करता था और दुनिया के रगड़ों झगड़ों से दूर रहता था, तथापि कुछ लोग ऐसे भी थे जो उसके प्रति मत्सरता का भाव रखते थे। उन्होंने बाबा से कह दिया-बाबाजी, धनवाली कार्तिक सेठ आपके दर्शन करने नहीं आया है।

बाबाजी थे क्रोध के पुतले ! दुनिया को अपने पैरों में झुकाना अपना अधिकार समझते थे। वह झट से राजा के पास पहुँचे और

कहने लगे कार्त्तिक सेठ जब तक नमस्कार नहीं करेगा, मेरे चरणों में नत मस्तक नहीं होगा, तब तक मैं भोजन नहीं ग्रहण करने का ।

राजा ने सेठ को बुला कर कहा-भाई योगी हठ को तो आप जानते ही हैं । बड़ा उत्कट होता है । इस योगी ने हठ पकड़ लिया है कि तुम जब तक नमस्कार नहीं करोगे तब तक वह आहार नहीं करेगा । तो अपने नगर में आए किसी योगी का भूखा रहना उचित नहीं है । थोड़ा-सा मस्तक झुका देने में आपका क्या बिगड़ता है ? उसका मन भर दो ।

कार्तिक सेठ अहंकारी नहीं, प्रकृति से विनीत था । पर विनीत होने के साथ-साथ विवेकी भी था । वह जानता था कि किसे नमस्कार करना चाहिए और किसे नहीं । उसे वह हठाग्रही योगी वन्दनीय नहीं जान पड़ता था । अतएव सेठ ने राजा से कहा–महाराज ! आप नीतिनिपुण और विवेकशाली हैं । आपको विदित ही होगा कि वन्दन-नमस्कार हड्डी चमड़ी को नहीं किया जाता । अशुचि पदार्थों से परिपूर्ण यह सप्त धातुमय शरीर भी वन्दनीय नहीं होता । अमुक प्रकार का वेष धारण करने से भी कोई व्यक्ति नमस्कार का पात्र नहीं हो जाता । नमस्कार किया जाता है संयम को । जिस आत्मा में संयम के गुण विद्यमान हैं, वही वन्दनीय है । सच्चे संयमवान् पुरुष की अनेक कसौटियों में से एक यह भी है कि वह संयम पालन के बदले में किसी से वन्दना-पूजा की अभिलाषा न करे और वन्दना करने वाले तथा वन्दना न करने वाले पर समभाव धारण करे । जब कोई वन्दना करे तो वह वन्दना अपने लिए नहीं, वरन् संयम के समझ कर निरभिमान रहे । जो इस कसौटी पर कसने से नहीं उतरता, वह वन्दना करने योग्य नहीं है ।

यह जो योगी नगर में आया है, वन्दना का अत्यन्त भूखा है, इस कारण वह वन्दना करने योग्य नहीं है। वह अपनी झूठी जिद पर अड़ा है और मान-कषाय के वशीभूत होकर पूजा का लोलुप है। तो क्या कारण है कि मैं अपनी सच्ची श्रद्धा पर अटल न रहूँ। मैं अरिहन्त के अलावा किसी भी देव को तथा कषायों को जीतने वाले, पंच महाव्रतधारी समताभावी गुरुओं के सिवाय किसी भी ढोंगी गुरु को मस्तक नहीं झुकाता। अगर सिर झुकाता हूँ तो सम्यक्त्व रूपी विमान से गिर कर मिथ्यात्व के अन्धकूप में गिर जाता हूँ।

इस प्रकार दुराग्रही योगी को नमस्कार करने से मेरी आत्मा का पतन होगा। इससे योगी को भी लाभ नहीं, हानि ही है। मैं उसे नमस्कार करूंगा तो उसकी कषाय रूपी अग्नि को ईंधन मिलेगा जिससे वह और अधिक वृद्धिगत होगी और उसकी आत्मा का भी पतन होगा। उसका अहंकार बढ़ेगा तो उसी को ले डूबेगा। इसके विपरीत अगर मैंने नमस्कार नहीं किया तो संभव है, वह नमस्कार न करने के कारण का विचार करे और इससे सन्मार्ग पर आजाय। इस प्रकार उसे मस्तक झुकाने से उसका और मेरा-दोनों का अहित है। मस्तक न झुकाने में दोनों को लाभ हो सकता है। इस घटना से साधारण जनता में भी ऊहापोह होगा और लोग सत्य का विचार करना सीखेंगे।

राजा ने सेठ को रिझाने के लिए अन्य प्रयत्न किये, किन्तु सब व्यर्थ साबित हुए।

अन्त में उस ढोंगी के कहने से राजा ने कार्तिक सेठ को भयानक कष्ट पहुँचाया। कार्तिक सेठ की पीठ पर गरमागरम खीर की थाली रक्खी गई और उसने वह खीर खाई। सेठ ने सब कुछ तकलीफ सहन की, मगर

अपनी श्रद्धा से विमुख होना कबूल नहीं किया। अन्त में कार्तिक सेठ दीक्षा अंगीकार करके शुभ गति को प्राप्त हुआ।

इसे कहते हैं सच्ची श्रद्धा! यह अटल संकल्प का एक नमूना है। जिसमें समस्त संकटों को सहन करने की शक्ति है, वही वास्तव में धर्म के मार्ग पर चल सकता है और कायम रह सकता है।

अभिप्राय यह है कि हमें सुदेव और सुगुरु को ही वंदना करना चाहिए, चाहे वे किसी भी देश में, और किसी भी काल में हों।

भाइयो! मस्तक आपका उत्तमांग है। यह वह मस्तक है जिसे तीर्थङ्कर के आगे झुकाया जाता है। अतएव इसकी कद्र करना सीखो। यह कोई पत्थर नहीं है कि जहाँ चाहा वहीं पटक दिया। विवेक के साथ इसे झुकाना चाहिए। इसी में आपका कल्याण है। जो पुरुष सम्यग्दृष्टि है, वह भय, आशा, स्नेह या लोभ आदि किसी भी कारण से अवन्दनीय के आगे नतमस्तक नहीं होता। सच्चे संयमी साधु पुरुषों के सामने उसका मस्तक स्वतः ही झुक जाता है। किन्तु वे संयमी जन वन्दना न करने वाले पर कोप नहीं करते। वस्तुतः जो वन्दना-नमस्कार की कामना नहीं करता, वही वन्दनीय होता है।

भगवान् महावीर ने तीनों लोकों के प्राणियों को धर्मोपदेश दिया किन्तु कभी किसी से नहीं कहा कि तुम मुझे वन्दना करो। वन्दनीय पुरुष स्वतः गुणज्ञों के द्वारा वन्दित हो जाते हैं। कहा है—

देवा वि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणो।

जिसका मन निरन्तर धर्म में निरत रहता है, देवगण भी उसके चरण चूमते हैं।

धार्मिक जनों को विज्ञापन बाजी नहीं करनी पड़ती। बल्कि उनका उपदेश दूसरों को भी यह होता है—

जे न वन्दे न से कुप्पे।
वन्दिओ न समुक्कसे ॥

जो वन्दना नहीं करता, उस पर कोप नहीं करना चाहिए और वन्दना करने पर अभिमान नहीं होना चाहिए। साधुजनों का कर्त्तव्य है कि वह वन्दना करने वाले और वन्दना न करने वाले पर सम-भाव धारण करे। राग और द्वेष से एकदम अछूता रहे। और मुमुक्षु जनों का कर्त्तव्य है कि जो ज्ञान और क्रिया में अपने से श्रेष्ठ हैं, गुणों में बड़े हैं, उनके प्रति विनयभाव धारण करें और उन्हें नमस्कार करें। साधुवन्दन की महिमा बतलाते हुए किसी कवि ने कहा है—

साधु वन्दन को जाइए, तज माया अभिमान।
जेते जेते डग भरे, तेते यज्ञ समान ॥

साधुजन का संयोग मिलने पर अवश्य ही उन्हें वन्दना करने के लिए जाना चाहिए और छल-कपट तथा अहंकार को त्याग कर वन्दना करना चाहिए। याद रखना चाहिए कि साधुओं को वन्दना करने के लिए भरा जाने वाला एक-एक डग एक-एक यज्ञ करने के बराबर है।

शास्त्र में प्रश्न किया गया है :—

वन्दणएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

अर्थात्—भन्ते ! वन्दना करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तर है—

वन्दणएणं नीयगोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबन्धइ। सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ। दाहिणभावं च णं जणयइ।

—उत्तराध्ययन, अ० २६-१०

अर्थात्—भक्ति पूर्वक वन्दना करने से नीच गोत्र कर्म का क्षय होता है। उच्च गोत्र कर्म का बन्ध होता है। सौभाग्य की प्राप्ति होती है। उसकी आज्ञा को कोई टाल नहीं सकता। वन्दना करने से दाक्षिण्य की प्राप्ति होती है।

वन्दना करते कदाचित् उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो जीव तीर्थंकर गोत्र का भी उपार्जन कर सकता है। कितने महान् फल की प्राप्ति है। अतएव सुपात्र को वन्दना अवश्य करना चाहिए और अपनी शुद्ध श्रद्धा को कायम रखना चाहिए। मिथ्यात्व को तिलांजलि दीजिए। इसीसे आपका कल्याण होगा।

ब्यावर
ता० १८-८-४१

:: धर्म प्रभाव ::

卐

यैः शान्तराग रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान् भगवन्! कहां तक आपकी स्तुति की जाय? कहां तक आपके गुणों का गान किया जाय?

प्रभो! हे जगद्गुरो! हे पुरुषोत्तम, सर्वोत्तम आदिनाथ! आप अनन्तगुणों के धाम हैं। जैसे आपकी आत्मा में अनन्त असाधारण गुण हैं उसी प्रकार आपके शरीर में भी अनन्त असाधारण सौन्दर्य भरा है। प्रभो! विश्व के उत्तम से उत्तम परमाणुओं से आपके शरीर का निर्माण हुआ है। जिन परमाणुओं से आपका यह सलौना शरीर बना है मालूम होता है वे परमाणु जगत् में उतने ही थे। अगर और बचे होते तो कोई दूसरा शरीर भी आपके शरीर के समान बना होता। किन्तु ऐसा सुन्दर कोई दूसरा शरीर

इस जगत में दृष्टिगोचर नहीं होता। अतएव यही जान पड़ता है कि जगत के जिन सर्वोत्तम परमाणुओं से आपके शरीर की रचना हुई है, वे उतने ही थे।

भाइयो ! दान, शील, तप और भावना रूप चतुर्विध धर्म की उत्कृष्ट आराधना करने से और मन वचन काय का उत्कृष्ट व्यापार होने पर तीर्थङ्कर गोत्र का बन्ध होता है। तभी तीर्थङ्कर शरीर की उपलब्धि होती है। वह शरीर ऐसा सुन्दर देदीप्यमान और प्रभावशाली होता है कि समवसरण में गया हुआ मिथ्यादृष्टि जीव भी सम्यग्दृष्टि बन जाता है। ऐसे भगवान श्री ऋषभदेव को हमारा बार बार प्रणाम है।

श्री स्थानांग सूत्र में भगवान ने सोलह सौ चतुर्भंगियां बतलाई हैं। उनमें से एक यह भी है कि चार प्रकार के रथ के समान जगत के प्राणी भी चार प्रकार के होते हैं। कोई कोई पुरुष दीखने में सुन्दर होते हैं और धर्म ध्यान भी खूब करते हैं। कोई दीखने में खूबसूरत होते हैं परन्तु श्रद्धाविहीन होते हैं। ऐसे लोगों के विषय में कहा जाता है—'आओ म्हारा नौलख बना, घर में स्त्री रोवे अन्न बिना।' ऐसे प्राणी कोतल घोड़े के समान होते हैं जो केवल दर्शन के ही होते हैं, सवारी के काम के नहीं।

कोई जीव दीखने में सुन्दर नहीं होते किन्तु धर्म ध्यान में पक्के होते हैं। मैंने मनमाड़ में चातुर्मास किया था। तब व्याख्यान में एक हरिजन भी प्रतिदिन व्याख्यान सुनने आता था। व्याख्यान सुनते उसे समय लगता और वह ड्यूटी पर देर से पहुँच पाता था कई दिन विलम्ब से आते देख उसके जमादार ने एक दिन कहा—देखोजी, तुम रोज रोज देर से आते हो। अब समय पर आया करो अन्यथा जुर्माना किया जायगा। उसने उत्तर दिया—मैं लापरवाही

के कारण अथवा काम से जी चुराने के कारण विलम्ब नहीं करता। अपनी ड्यूटी के बदले कमाई के लिए कोई दूसरा काम भी नहीं करता। मैं महात्मा का उपदेश सुनने जाता हूँ और वह उपदेश मुझे हितकर होता है। अतएव मैं उसे सुनना नहीं छोड़ सकता। इस धर्म कार्य के बदले अगर जुर्माना सहन करना पड़े तो मैं उसे करने को तैयार हूँ।

मगर अपने निश्चय पर अटल रहने के फल स्वरूप उसके वेतन में एक रुपये की वृद्धि हुई।

एक दिन उस हरिजन ने अपने जाति वालों को भोज दिया और उसी समय यह घोषणा भी कर दी कि कल से मैं अपना कार्य बंद कर दूंगा। मुझे कोई आग्रह न करें। मैं अपना समय धर्म ध्यान में अधिक लगाना चाहता हूँ।

दूसरे दिन उसने सम्यक्त्व ग्रहण किया और नमस्कार मंत्र सीखा। उसे बैठका, मुखपत्ती आदि उपकरण दिला दिये गये और वह अब प्रतिदिन सामायिक करता है। कहिए, जाति का नहतर किन्तु धर्म ध्यान में कितना पक्का! किसी ने यथार्थ ही कहा है—

जात-पांत पूछे नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

मानव जीवन की उत्तमता की कसौटी जाति नहीं है, भगवद् भजन है। जो मनुष्य परमात्मा के भजन में अपना जीवन अर्पित कर देता है और धर्म पूर्वक ही अपना जीवन व्यवहार चलाता है, वही उत्तम है, वही ऊंचा है, चाहे वह किसी भी जाति में उत्पन्न हुआ हो। उच्च से उच्च जाति में जन्म लेकर भी जो हीनाचारी है, पाप के आचरण में जिसका जीवन व्यतीत होता है और जिसकी

अन्तरात्मा कलुषित बनी रहती है, वह मनुष्य उच्च नहीं कहला सकता।

आत्मा का उत्थान जाति से नहीं, पवित्र आचार से ही हो सकता है।

कई लोग जाति के अभिमान के वशीभूत होकर आचरणहीन होने पर भी दूसरे आचारसम्पन्न पुरुषों को हीन दृष्टि से देखते हैं, परन्तु दूसरों को हीन समझना अपनी ही हीनता को प्रकट करना है। वे नहीं जानते कि धर्म के बाजार में जाति की कोई कीमत होने वाली नहीं है। जाति आत्मा को तार नहीं सकती। वह तो मनुष्यों की कल्पना मात्र है। उससे धर्म का कोई खास सम्बन्ध नहीं है।

बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो समझते हैं कि अमुक जाति में जन्म लेने से ही हम समकित के स्वामी और धर्मात्मा हो गए। यह भी भ्रमपूर्ण धारणा है।

हां, तो कोई-कोई जीव ऐसे भी होते हैं जो न तो देखने में सुन्दर होते हैं और न धर्म ध्यान में ही कुछ समझते हैं। वे दिन-रात हिंसा ही हिंसा में रत रहते हैं। बैठे-बैठे और कुछ नहीं तो मक्खियां ही मारा करते हैं। वे इस जन्म में भी दरिद्र हैं और आगे भी नरक में जाने के कार्य करते हैं, अतएव दरिद्र ही होंगे। उन्हें न बाह्य वैभव प्राप्त है, न आन्तरिक। वे न इस लोक में सुखी हैं, न परलोक में सुखी बनने वाले हैं।

भाइयो! वीतराग देव का मार्ग अनुपम और असाधारण है। पता नहीं, आपने किस जन्म में कौन-सा महान् पुण्य उपार्जन किया था, जिसके फलस्वरूप आपको ऐसे कुल में जन्म मिला, जिसमें

वीतरागधर्म का परिपालन होता था और अनायास ही आपको इस धर्म के संस्कार प्राप्त हो गए। वास्तव में ऐसा वातावरण मिल जाना लोकोत्तर पुण्य का ही फल है। उस पुण्य ने आपको धर्म के वातावरण में पहुँचाया है। इससे लाभ उठाना अथवा न उठाना, अब आपके हाथ की बात है। अगर आप अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहते हैं, भविष्य में सुख चाहते हैं, और पुण्य की उस पूंजी को समाप्त न करके बढ़ाना चाहते हैं, तो आपके लिए यही उचित है कि आपको जो संयोग मिले हैं, उनसे पूरा लाभ उठाइए। अपने जीवन को पवित्र बनाइए। बुराइयों को छोड़कर अच्छाइयों को अपनाइए। ऐसा बर्त्ताव कीजिए कि जिससे आपका हित हो और आपको देखकर, आपके सम्पर्क में आने वाले दूसरे लोगों को भी सुशिक्षा मिले और वे आपका अनुकरण करके अपने जीवन को ऊंचा उठा सकें।

यह ठीक हो सकता है कि आपकी धर्म पर श्रद्धा हो। यदि ऐसा है तो यह सराहनीय बात है। किन्तु उस श्रद्धा के अनुसार आपको आचरण भी करना चाहिए, किसी औषध पर आपको पूरा विश्वास है, आप मानते हैं कि इस रोग की इससे अच्छी दूसरी कोई दवा नहीं हो सकती, किन्तु रोग होने पर भी यदि आप उसका सेवन नहीं करते तो किस प्रकार लाभ हो सकता है? श्रद्धा का काम श्रद्धा से होगा, मगर आचरण करने से प्राप्त होने वाला लाभ तो आचरण करने से ही प्राप्त हो सकता है।

आपका आचरण आपके धर्म का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। जिस धर्म के अनुयायियों का आचरण उनके धर्म के अनुकूल होता है, उस धर्म का जगत् में प्रभाव फैलता है। उनके आचरण की महत्ता को देख कर ही लोग धर्म की महत्ता को आंक लेते हैं। अतएव अगर आप चाहते हैं कि आपके धर्म की प्रभावना हो और

लोग उसे उत्तम समझें तो आप अपने जीवन में उसे मूर्त्तिमान करें। धर्म की प्रभावना के लिए अन्य कुछ कर सकें या न कर सकें, अगर आप इतना भी कर सके तो धर्म की महान् सेवा होगी और साथ ही आपकी आत्मा का भी कल्याण होगा।

हम वीतराग प्ररूपित धर्म के उच्च सिद्धान्तों का वर्णन करें और उस धर्म के अनुयायियों में उन सिद्धान्तों की तनिक भी झलक न मिले तो लोगों को सहसा विश्वास नहीं होता। दुनिया के अधिकांश लोग अनुयायियों के व्यवहार को देख कर ही उस धर्म के विषय में अपना मत बना लेते हैं। भले ही वह मत अभ्रांत न हो, फिर भी बना तो वह लेते ही हैं।

जैनधर्म अनन्त काल से पतित आत्माओं को उन्नत बनने का मार्ग दिखलाता रहा है। वह अधमात्मा को भी परमात्मा बनाने का मार्ग है। कई लोग जैनधर्म को बदनाम करने के उद्देश्य से अथवा उसके स्वरूप को ठीक-ठीक न समझने के कारण अनीश्वरवादी धर्म कहते हैं। मैं समझता हूँ कि इससे बड़ी भ्रान्ति दूसरी नहीं हो सकती। दूसरे लोग एक अनादि-अनन्त ईश्वर मानते हैं और कहते हैं कि कोई कितनी ही तपस्या क्यों न करे, वह ईश्वर हो ही नहीं सकता। मगर जैनधर्म की मान्यता ऐसी नहीं है। जो आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की यथाविधि आराधना करता है और वीतरागभाव को जाग्रत करके समस्त कर्मों का अन्त कर देता है, वह पूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि करके परमात्मा का पद प्राप्त कर लेता है। यह जैन धर्म का सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन सर्वज्ञों ने किया है। कहा भी है-

ईश्वरवादी जैन सदा और अनीश्वरवाद मिटाता है।
आत्मा को ईश्वर बनने की, युक्ति साफ दिखाता है॥

तो आपको ऐसे धर्म की प्राप्ति हुई है जो आपकी आत्मा का उत्थान करके ईश्वर के पद पर पहुँचा सकता है। आपको तीर्थङ्कर जैसे देव और कनक-कामिनी के त्यागी वैरागी गुरुओं का संयोग मिला है तो इससे लाभ उठाओ और आत्मा का कल्याण करो।

आत्मिक कल्याण के लिए पर्युषण पर्व एक सर्वोत्तम अवसर है। इस लोकोत्तर महापर्व के आठ दिन अत्यन्त पवित्र हैं। इन दिनों किसी भी मनुष्य को धर्मध्यान किये बिना नहीं रहना चाहिए। कहा है–

पर्युषण पर्व आज आया,

कि सज्जनो! पर्व आज आया, कि मित्रो! पर्व आज आया,
सब जीवों की करो दया, यह संदेशा लाया ॥टेक॥
आठ दिवस तुम प्रेम धरीने, बाधो और भायो,
शुद्ध करो धर्मध्यान खास सद्गुरु ने फर्माया।

यह पर्युषण पर्व संसार के समस्त पर्वों में प्रधान और समस्त त्यौहारों में सर्वोत्तम त्यौहार है। क्योंकि–

होली त्यौहार आवे जीवों की है होती घात,
दशहरा त्यौहार में तो हत्याएं कराता है।
दीवाली त्यौहार में तो पंचेन्द्रिय की होती घात,
होली के त्यौहार में तो अश्लील गवाई है।

भाइयो! भारत में मनाये जाने वाले प्रायः सभी त्यौहारों में हिंसा का पोषण होता है, जब कि पर्युषण महापर्व के शुभवसर पर सब जीवों की दया की जाती है। गृहस्थ श्रावक अपने सामान्य जीवन में जिन जीवों की हिंसा का परित्याग नहीं कर सकते, वे भी इस

अवसर पर उन जीवों की हिंसा का त्याग करके विशेष रूप से अहिंसा की आराधना करते हैं। जीवों को अभयदान दिया जाता है। जोधपुर में आठ दिन बाजार बन्द रहता है और कसाईखाने बंद रहते हैं उदयपुर में आठों दिन कसाईखाने बंद रहते हैं, और सभी प्रकार की पशुहिंसा बन्द रहती है। अभी-अभी चार अखते वहां और बढ़ाये गये हैं। हमारे नगरप्रवेश के दिन और विहार के दिन तथा भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी की जयन्ती के दिन। इन दिनों कसाईखाने बंद रहते हैं।

यह धर्म प्रधान देश है! धर्म के प्रताप से यहां शान्ति का प्रसार रहता है, जब कि विलायत में हाहाकार मचा हुआ है। वहां निरन्तर अशान्ति के बादल मँडराते रहते हैं और जनता को कभी निश्चिन्तता का आनन्द उपलब्ध नहीं होता। यूरोप बारूदखाने के समान है, जिसमें आग की चिनगारी लगते ही अशान्ति की भयंकर ज्वालाएँ उत्पन्न हो सकती हैं और वहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति के साथ मानवसमूह कृतान्त के मुख में समा सकता है।

भले ही भौतिक विकास की दृष्टि से भारत यूरोप से पीछे पड़ गया हो, तथापि वह अपनी धर्ममय संस्कृति के कारण आज भी यूरोप से अत्यधिक समृद्धिशाली है। वहाँ न भारत जैसी धार्मिकता है, न पारिवारिक शान्ति है और न अल्प साधनसामग्री में भी संतोष और शान्ति के सुखमय जीवन व्यतीत करने की कला है। भारत के सभी धर्मों ने सदाचार को स्थान दिया है और सदाचारी जीवन को उत्तम जीवन माना है। यही कारण है कि साधारणतया भारतीय जीवन पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, सदाचार की छाप लगी रहती है। इसका व्यावहारिक फल यह है कि अभाव की अवस्था में भी भारतवासी सुख की अनुभूति कर सकता है। यूरोप में यह बात नहीं है। वहां सन्तोषवृत्ति को कायरता समझा जाता है

और महत्त्वाकांक्षाओं को सदा बढ़ाते जाना और उनकी पूर्ति के प्रयत्न ही प्रयत्न में जीवन का अन्त कर देना पुरुषार्थ का लक्षण समझा जाता है।

अब आप स्वयं विचार करें कि शान्ति किस उपाय से प्राप्त की जा सकती है? पाश्चात्य जीवन मृग-तृष्णा के पीछे भटकने वाले हिरण के असफल प्रयत्न के समान है। इस प्रकार के जीवन में तृप्ति का अनुभव नहीं हो सकता। यह तृष्णा की आग में झुलसाने वाला ही हो सकता है।

भारतीय जीवन में पाई जाने वाली यह विशेषता धर्म का ही महान् वरदान है। अगर अन्यान्य बातों को हम ध्यान में न लें तो यही एक वरदान धर्म की असाधारण उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

भारत में सदा से ऐसे महापुरुषों का जन्म होता आया है, जिन्होंने अपने जीवन को धर्ममय और संयममय बनाया और जब अपनी साधना को चरम सीमा पर पहुँचा चुके तो जगत् को धर्म एवं संयम का मार्ग दिखलाया। बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि का वृत्तान्त मैं आपके समक्ष रख रहा हूँ, जिन्होंने पशुओं की दया की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकर्षित करने के लिए तोरण के सन्निकट पहुँच कर भी, विवाह किये बिना ही, लौटकर दीक्षा अंगीकार की थी।

सौरीपुर में महाराज समुद्रविजयजी राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम शिवा देवी था। महारानी महासौभाग्यशालिनी और सर्वसद्गुणों में सम्पन्न थी।

मथुरा के राजसिंहासन पर उन दिनों उग्रसेन महाराज का राज्य था। एक बार उग्रसेनजी उद्यान में सैर करने गये तो वहां उन्होंने एक महात्मा को देखा। महात्मा बड़े तपस्वी थे और मासखमण का तप कर रहे थे। अर्थात् एक मास में एक ही बार आहार किया करते थे। पारणा के दिन भी वे एक ही घर में जाते थे।

जिस दिन महाराज उग्रसेन ने महात्मा को देखा, उसके दूसरे दिन ही उनकी तपस्या का पारणा होने वाला था। बहुत से लोग महात्मा की सेवा में उपस्थित थे और अपने-अपने घर पारणा करने की स्वीकृति चाहते थे। यह देख राजा भी वहां पहुँच गये और उन्होंने भी अपने महल में पारणा करने की प्रार्थना की। उन्होंने निवेदन किया—महात्मन्! कल तो मुझ पर अनुग्रह कीजिए और महल में पधार कर पारणा कीजिए।

तपस्वी ने राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली और प्रसन्न होकर वह अपने महल में लौट आया। आकर अपने ऐशआराम में मस्त हो गया। वह भूल गया कि कल के लिए मैंने तपस्वी को आमंत्रित किया है और उनको पारणा कराना है।

मगर किसी ने ध्यान नहीं दिया और न पूछताछ की, अतएव वे वापिस लौट गए हैं।

राजा ने मन ही मन में अत्यन्त पश्चात्ताप किया। वह अपनी विस्मृति के लिए अपने आपको बुरी तरह कोसने लगा। मगर अब पश्चात्ताप करने से भी क्या हो सकता था! महात्मा लौट चुके थे और एक मास की तपस्या भी अंगीकार कर चुके थे। राजा का प्रमाद ऐसा था कि अब उसका कोई प्रतीकार नहीं हो सकता था।

भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी को संबोधन करके संसार के प्राणियों को बार-बार चेतावनी दी है कि प्रमाद एक समय का भी अत्यन्त हानिकर होता है, अतएव समय मात्र भी प्रमाद न करो

समयं गोयम ! मा पमायए।

कितनी महत्त्वपूर्ण चेतावनी है! क्षण भर का प्रमाद भी कभी-कभी घोर अनर्थ पैदा कर देता है। अतएव मनुष्य को सदैव सावधान, अप्रमत्त एवं जागृत रहना चाहिए। थोड़ी सी देर की राजा की विस्मृति की बदौलत महात्मा को कितना कष्ट उठाना पड़ा! उन्हें एक मास के बजाय दो मास तक निराहार रहना पड़ा। राजा कितना ही पश्चात्ताप करे, मगर जो अनर्थ घटित हो चुका, उसकी पूर्ति संभव नहीं।

पश्चात्ताप करता हुआ राजा महात्मा के पास पहुँचा। उसने अपने प्रमाद के लिए नम्रता पूर्वक क्षमायाचना की। महात्मा ने शान्त भाव से कहा—राजन्! मैं जानता हूँ कि इसमें आपका कुछ भी दोष नहीं है। इसके लिए आप पश्चात्ताप न करें। कर्म का व्यापार चलता है और वह मैं कर ही रहा हूँ। स्वयं के उपार्जन किये हुए कर्मों का फल स्वयं ही भरना पड़ेगा।

महात्मा के सदुत्तर को सुन कर राजा गद्गद हो गया। उसने कहा—महात्मन्! आप दया और क्षमा के सागर हैं। आपने

मेरे गुरुतर अपराध पर दृष्टि तक नहीं डाली। परन्तु मुझे सान्त्वना का कोई आधार नहीं दिखाई देता। हाँ, यदि आप अगली बार मेरे यहाँ पारणा करना स्वीकार करें तो कुछ सान्त्वना मिल सकती है।

महात्मा बोले-राजन्! पारणा को अभी एक मास का समय शेष है। इस शरीर का क्या भरोसा है! यह भी तो निश्चित नहीं है कि अगला साँस आएगा भी या नहीं। ऐसी स्थिति में आगामी पारणा के लिए अभी कुछ भी कहना उचित न होगा।

मगर राजा ने कहा-महात्मन्! ऐसा है तो मैं क्या अवलम्ब लेकर वापिस जाऊं? कम से कम यह अश्वासन तो दीजिए कि यदि कोई विघ्न उपस्थित न हो और पारणा का दिवस आए तो मेरे यहीं आपका पारणा हो।

महात्मा ने राजा के चित्त को दुःखित होने से बचाने के लिए उसका अनुरोध स्वीकार कर लिया। पारणा के एक दिन पूर्व जाकर राजा ने फिर प्रार्थना की।

दूसरे दिन महात्मा पुनः राजा के महल में आहार ग्रहण करने गये, परन्तु हन्त! उन्हें पुनः निराहार ही वापिस लौटना पड़ा।

इस वार पारणा के समय राजा का हाथी बिगड़ गया और राजा उसकी व्यवस्था करने में व्यस्त हो गया। महात्मा को आमन्त्रित करने और उनके आगमन का समय होने की बात उसके ध्यान में न रही।

तीसरे मासखमण की पारणा करने के लिए राजा ने पुनः प्रार्थना की। मगर इस वार तपस्वी का कोप जागृत हो उठा। उसने

राजा को बुरा भला कहा और आजीवन अनशन अंगीकार कर लिया।

कर्म की गति बड़ी विचित्र है! उसका किस पर कब हमला हो जायगा, कौन कह सकता है? मास-मास खमण करने वाला वह तपस्वी क्रोध कषाय के वशीभूत हो गया। उसने अपनी तपस्या को कषाय के विष में विपाक कर लिया। चिन्तामणि रत्न का मूल्य साधारण पाषाण के समान हो गया। तपस्वी ने मरते समय कहा कि अगर मेरी तपस्या का कुछ भी फल हो तो मैं इसी राजा के पुत्र के रूप में जन्म लूं और इससे इन दुष्कृत्यों का भरपूर बदला लूं।

वह तापस मर कर धारिणी रानी की कुंख में उपजा और दिन-दिन गर्भ बड़ा होने लगा। चार महीने बाद रानी को दोहला उत्पन्न हुआ कि मैं राजा के कलेजे का मांस खाऊं।

दोहला इतना अशिव, लज्जाजनक और कुत्सित था कि रानी उसे प्रकट नहीं कर सकती थी। मगर दोहद पूर्ण न होने से रानी दुर्बल होने लगी। रानी की असाधारण दुर्बलता देख कर एक दिन राजा ने दुबली होने का कारण पूछा। रानी के गर्भ के दुष्प्रभाव से अब इतना साहस जागृत हो गया था कि उसने सारा हाल राजा से कह दिया।

राजा सोच-विचार में पड़ गया। उसने अपने मन्त्री से परामर्श लिया और मन्त्री ने, राजा को कष्ट भी न पहुंचे और रानी का दोहद भी पूरा हो जाय, ऐसी एक युक्ति खोज निकाली। इसके अनुसार खरगोश का मांस राजा के कलेजे से लगा दिया गया और उसी को काट-काट कर रानी को खिला दिया गया।

रानी का दोहद जब पूरा हो गया और उसे होश आया तो वह राजा के लिए तड़फने लगी। तब मन्त्री ने उसे आश्वासन दिया कि सात दिन बाद राजा भी अच्छे हो जाएँगे।

सात दिन बीतने के बाद राजा रानी से मिला। तत्पश्चात् गर्भ का काल समाप्त होने पर पुत्र का जन्म हुआ। किन्तु रानी को उस पुत्र के प्रति इतनी घृणा हो गई थी कि उसने दासी से कहा—एक लकड़ी की पेटी लाओ और उसमें इसे बंद करके नदी में बहा दो।

नवजात शिशु माता के आदेशानुसार नदी में बहा दिया गया। राजा को असल बात नहीं बतलाई गई। कह दिया गया कि बालक तो जन्मते ही मर गया।

संयोग की बात! पेटी तैरती-तैरती किसी जगह किनारे के निकट पहुँची और समुद्रक नामक एक सेठ को दिखाई दी। उसने वह पेटी बाहर निकाली और खोल कर देखी तो सुन्दराकार शिशु उसमें था। वह उस शिशु को अपने घर ले गया और अपनी पत्नी को देकर बोला-लो प्रिये, इसका पालन-पोषण करो।

धीरे-धीरे लड़का बड़ा हो गया। पास-पड़ौस में खेलने जाने लगा, किन्तु अत्यन्त दुष्ट स्वभाव और शरारती हो गया। प्रतिदिन किसी न किसी का उपालंभ लाता। किसी बालक को चिढ़ाता, किसी को पीटता, किसी की कोई चीज झपट लेता, छीन लेता। आसपास के लड़के उससे परेशान हो गए और उपालंभ सुनते सुनते घर के लोग भी हैरान हो गए।

कुछ काल के अनन्तर सेठ ने विचार किया बालक अब बड़ा हो गया है और घर पर रखने से अधिक बिगड़ जाने की संभावना

है, अतएव इसे वसुदेवजी के यहां नौकर के रूप में रख देना उचित है। आखिर यही किया गया। यह लड़का जिसका नाम कंस रक्खा गया था, वसुदेवजी के पास रहने लगा। समय पाकर, भाग्य अनुकूल होने के कारण कंस वसुदेवजी का घनिष्ठ मित्र हो गया।

एक समय जरासिंध ने किसी को बन्दी बनाने के लिए समुद्रविजयजी के पास सूचना भेजी और साथ ही यह भी घोषणा की कि जो इस राजा को पकड़ कर मेरे सामने हाजिर करेगा, उसके साथ मैं अपनी लड़की जीवयशा का विवाह कर दूंगा। वसुदेवजी ने यह कार्य किया किन्तु समुद्रविजयजी ने उनसे कहा—यह लड़की कुलक्षणा और कुलकलंकिनी है, अतः तुम कंस का नाम ले दो। यही हुआ और कंस के साथ उस लड़की की शादी हो गई।

दहेज में कंस ने मथुरा का राज्य मांगा और सेना लेकर मथुरा पर चढ़ाई कर दी। लड़ाई में कंस का पलड़ा भारी रहा। उसने अपने पिता उग्रसेनजी को कैदी बना कर पींजरे में डाल दिया और वह स्वयं मथुरा का राजा बन कर आनन्द पूर्वक राज्य करने लगा।

ब्यावर
११-८-४१

ले संग खर्ची रे !

卐

दृष्ट्वा भवन्त मनि मेषविलोकनीयं,
नान्यत्र तोष मुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पय. शशिकर द्युतिदुग्ध सिन्धोः,
क्षार जलं जलनिधे रशितु क इच्छेत् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अनन्त शक्तिमान भगवन् ! कहां तक आपकी स्तुति की जाय ! कहाँ तक आपके गुणों का गान किया जाय ।

हे जगद्गुरु, पुरुषोत्तम, सर्वोत्तम ! भगवन् ! आप अनिमेष विलोकनीय हो । आपको जो एक बार देख ले, वह लगातार देखता ही रह जाय, फिर आपके दर्शन बिना उससे रहा न जाय । उसे पलक मारने का व्यवधान भी सहन न हो । ऐसी इच्छा हो कि आंखों के पलक न गिरते तो कितना अच्छा होता और भगवान् ऋषभदेव को टकटकी लगा कर ही देखता रहता । जैसे अच्छे से अच्छा माल खाने वाले की जीभ स्वादप्रिय हो जाती है और फिर उसे नीरस-निस्वाद चीजों को खाने की इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार हे प्रभो ! जिसने एक

श्रीमत् स्थानांगसूत्र में भगवान् महावीर स्वामी ने अनेक प्रकार की चौभंगिया बतलाई हैं। उनमें से एक चौभंगी में रथ और बैल के न्याय पर चार प्रकार के पुरुष बतलाए हैं। यथा--

१--कोई पुरुष रूपवान् और धनवान् भी है तथा धर्म ध्यान में भी पक्का होता है।

२.--कोई धर्मध्यान में पक्का होता है, मगर रूपवान और धनवान् नहीं होता।

३--कोई रूपवान् और धनवान् तो होता है, किन्तु धर्मध्यान में पक्का नहीं होता।

४--कोई न रूपवान् और न धनवान् होता है और न धर्म ध्यान में ही पक्का होता है।

कोई मनुष्य नौकरी करता है तो उसे मासिक, साप्ताहिक या वार्षिक वेतन भी मिलता है। अगर कोई आदमी एक मास तक नौकरी करके छोड़ दे तो क्या उसे दूसरे मास की तनख्वाह घर बैठे बैठे ही मिल जायगी? कभी नहीं। इसी प्रकार जिस जीव ने पूर्व जन्म में कोई अच्छी पुण्य रूप करणी की, उसे यहां सेठ, राजा, महाराजा आदि के रूप में वेतन मिला है। किन्तु अब वह यदि धर्म-नौकरी पर नहीं जाएगा और अपनी ड्यूटी पूरी नहीं करेगा तो आगे कुछ भी नहीं मिलने का! बिना काम किये कोई वेतन लेना चाहे तो उसे नहीं मिल सकता। हां, अगर शुद्ध हृदय से पूरी अवधि तक नौकरी बजाओगे तो पैंशन भी प्राप्त कर लोगे। अगर मुक्ति-पैंशन पानी है तो पूरी ज़िन्दगी तक धर्म की नौकरी बजाओ। सांसारिक पैंशन तो २५ वर्ष पूर्ण होने पर मिलती है, किन्तु मोक्ष की पैंशन तो जोर लगाने पर ६ महिने में ही अर्जुन माली ने प्राप्त कर ली थी। और

करना होगा। जो सुखशील है और जरा सा भी कष्ट सहन करते घबराता है, जो कष्ट की कल्पना मात्र से कातर हो उठता है. ऐसा कायर नर तपश्चर्या के क्षेत्र में कदम नहीं बढ़ा सकता।

सुखी बनने के लिए दूसरी आवश्यक शर्त है कामनाओं से छुटकारा पाना। अगर आप शान्त चित्त से गहराई में उतर कर सोचोगे तो पता चलेगा कि मनुष्य के दुःखों का मूल कामनाएँ हैं। नाना प्रकार की कामनाएँ मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होती रहती हैं और वह उनकी पूर्ति के लिए दिन-रात पचता रहता है। अगर उनकी पूर्ति साधनाभात्र के कारण न हो सकी तो उसके चित्त में संताप का दावानल सुलगता है, अशान्ति होती है और उसे क्षण भर के लिए सुख का अनुभव नहीं होता। कदाचित् संयोग अनुकूल हुए और कामना की पूत्ति हो गई तो उसकी पूर्ति के साथ अनेक नवीन कामनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार कामनाओं का चक्र अप्रतिहत गति से चलता ही रहता है। और जब कामनाएँ दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती रहती हैं तो फलस्वरूप दुःख ही दुःख मनुष्य के पल्ले पड़ता है। तात्पर्य यह है कि कामनाओं की पूति करके कोई दुःख से छुट्टी नहीं पा सकता। दुःख से छुट्टी पाने का एक ही उपाय है और वह है कामनाओं से छुट्टी पाना। जिसने कामनाओं को जीत लिया, समझ लो कि उसने समस्त दुःखों को ही जीत लिया।

किन्तु कामनाओं को जीतने के लिए राग और द्वेष की विकारमयी वृत्तियों पर विजय पाना अनिवार्य है। जब तक अन्तःकरण में राग और द्वेष की धमा चौकड़ी मची है, तब तक इच्छाओं पर विजय प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव राग-द्वेष को क्रमशः जीतने का प्रयत्न करो और अन्तःकरण में अधिक से अधिक समभाव जगाने की साधना करो। यही सुख की प्राप्ति का मार्ग है।

आगे का जीवन सुखमय किस प्रकार बन सकेगा, यह आप स्वयं सोच सकते हैं।

आत्मा के उद्धार के लिए यही मानव जीवन सब से अधिक उपयुक्त है। अगर इस जीवन में मिहनत नहीं की तो फिर गधे-घोड़े की योनि में तो क्या कर सकोगे? अतएव भाइयो! कुछ मिहनत करो और पुण्य का संचय करो—

ले संग खर्ची रे!

परभव की खर्ची लीधा सरसी रे॥

आगे धंधो पाछे धंधो,

धंधो कर कर मरसी रे।

धर्म सुकृत नहीं किया,

परभव कांई करसी रे॥

भाइयो! साथ में खर्ची ले लो। प्रवास लम्बा है और जहाँ जाना है वहाँ कोई सहायक नहीं है। अपने बल-बूते पर ही वहाँ निभना होगा। इसलिए साथ में खर्ची लिये बिना काम नहीं चलेगा। बिना खर्ची लिये इहलोक और परलोक में दुत्कारे जाओगे। बम्बई जैसे शहर में जाने वालों को भी खर्ची लेनी पड़ती है और जो यों चले जाते हैं, वे कदाचित् वहाँ तक पहुँच भी जाएँ तो उनकी मिट्टी पलीद होती है। वे वहाँ भूखे मरते हैं और प्रत्येक जगह अनादर ही अनादर पाते हैं।

इसी प्रकार यदि धर्मध्यान करके परलोक के लिए कुछ खर्ची न ली तो न घर के रहोगे न घाट के। परलोक में अनादर और संकट के पात्र बनोगे। पेट भरने के धंधे सर्वथा छोड़ देने के लिये मैं नहीं कह रहा हूँ मगर यह अवश्य कहता हूँ कि इन धंधों को ही सब कुछ मत समझो। सम्पूर्ण जीवन इन्हीं के लिए खर्च न कर

आगे का जीवन सुखमय किस प्रकार बन सकेगा, यह आप स्वयं सोच सकते हैं।

आत्मा के उद्धार के लिए यही मानव जीवन सब से अधिक उपयुक्त है। अगर इस जीवन में मिहनत नहीं की तो फिर गधे-घोड़े की योनि में तो क्या कर सकोगे ? अतएव भाइयो ! कुछ मिहनत करो और पुण्य का संचय करो—

ले संग खर्ची रे !
परभव की खर्ची लीधां सरसी रे ॥
आगे धंधो पाछे धंधो,
धंधो कर कर मरसी रे ।
धर्म सुकृत नहीं किया,
परभव काई करसी रे ॥

भाइयो ! साथ में खर्ची ले लो। प्रवास लम्बा है और जहाँ जाना है वहाँ कोई सहायक नहीं है। अपने बल-बूते पर ही वहाँ निभना होगा। इसलिए साथ में खर्ची लिये बिना काम नहीं चलेगा। बिना खर्ची लिये इहलोक और परलोक में दुत्कारे जाओगे। बम्बई जैसे शहर में जाने वालों को भी खर्ची लेनी पड़ती है और जो यों चले जाते हैं, वे कदाचित् वहाँ तक पहुँच भी जाएँ तो उनकी मिट्टी पलीद होती है। वे वहाँ भूखे मरते हैं और प्रत्येक जगह अनादर ही अनादर पाते हैं।

इसी प्रकार यदि धर्मध्यान करके परलोक के लिए कुछ खर्ची न ली तो न घर के रहोगे न घाट के। परलोक में अनादर और संकट के पात्र बनोगे। पेट भरने के धंधे सर्वथा छोड़ देने के लिये मैं नहीं कह रहा हूँ मगर यह अवश्य कहता हूँ कि इन धंधों को ही कुछ मत समझो। सम्पूर्ण जीवन इन्हीं के लिए खर्च न कर

दो। यह मत समझो यह जीवन ही सब कुछ है और आगे कुछ नहीं है। वर्त्तमान जीवन तो अल्पकालीन है,उसके आगे बड़ा लम्बा भविष्य है। उसका सामना करने की भी तैयारी करो। थोड़ा धंधा अगले जीवन के लिए भी करो। साथ ही जब इस जीवन के लिए धंधा करते हो तब परलोक को विस्मृत मत करो। अन्याय से, अनीति से, मिथ्याभाषण से, अप्रामाणिकता से अथवा छलकपट से धंधा करना परलोक को भुला देना है। ऐसा न करके भी प्रामाणिकता के साथ, श्रावक धर्म के अनुकूल आजीविका चलाई जा सकती है। इतना कर लो तो भी कुछ करना कहला सकता है।

भाइयो! कम से कम पर्युषण के आठ दिनों में तो पुण्य और धर्म की आराधना कर लो और आगे के जीवन को सन्मार्ग पर ही ले जाने का निश्चय कर लो। ऐसा करने से आगे के लिए खर्ची जुट जाएगी।

माता-पिता पाल-पोस कर बड़ा कर देते हैं और शादी करके अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो जाते हैं; किन्तु हम साधु लोग तो तुम्हारे अगले भव में भी मदद करने वाले हैं। समय पर उपदेश देकर और चेतावनी देकर तुम्हारा अगला जन्म सुधारने की चेष्टा करते हैं।

आप श्रावक के कुल में जन्मे हैं और श्रावक कहलाते हैं, किन्तु यदि श्रावक के धर्म का पालन न करें तो श्रावकत्व किस काम का है? आपके पास घोड़ा हो, परन्तु वह बैठने के काम न आवे तो किस काम का? श्रावक कहलाने मात्र से आत्मा का निस्तार होने वाला नहीं है। श्रावक कहलाना तो एक स्थूल व्यवहार मात्र है। श्रावकत्व जन्म से नहीं, कर्म से आता है। सच्चा श्रावक वही है जो वीतराग द्वारा प्ररूपित श्रावक के कर्त्तव्यों का भलीभाँति आचरण करता है। श्रावक का पद प्राप्त करने के लिए आपको आनन्द,

कामदेव आदि के चरण चिन्हों पर चलना होगा। केवल कहलाने मात्र से कुछ होने वाला नहीं है।

हम आपको तब तक ही उपदेश देंगे जब तक आप मनुष्य हो। पशु आदि की योनि में चले जाने पर कभी कुछ नहीं कहेंगे। तो आपसे हमारा यही कहना है कि मनुष्य जन्म की कद्र करो, क्योंकि महान पुण्य के योग से यह जन्म मिला है। कहा है—

सारी दुनिया में इन्सान सरदार है,
मिलना तुमको यह हर वक्त दुश्वार है।
देवप्रिय बताया प्रभु वीर ने,
मिलना दुर्लभ बताया प्रभु वीर ने।
जौहरी हीरे का होता कदरदार हैं॥

मनुष्य जन्म सब जन्मों में सिरमौर है। इसी जन्म से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। देवगण भी मनुष्य जन्म की कामना करते हैं, क्योंकि यद्यपि सांसारिक सुखों की दृष्टि से देवभव मनुष्यभव से बहुत बढ़कर है दैवी सुखों की तुलना में मानवीय सुख नगण्य हैं, तुच्छ हैं, तथापि देवभव आध्यात्मिक साधना के लिए उपयोगी नहीं है। देवता कर्मों का क्षय करके मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते। मोक्ष प्राप्त करना तो दूर रहा, उन्हें पंचम गुणस्थान भी नहीं प्राप्त होता और वे श्रावकविरति को भी अंगीकार करने में समर्थ नहीं होते। अतएव जो भी जीव मुमुक्षु है, भले ही वह देव भी क्यों न हो, उसे मनुष्यभव धारण करने की अभिलाषा होगी ही; क्योंकि एक मात्र मनुष्यभव से ही मोक्ष प्राप्त किया जाता है।

भगवान् महावीर स्वामी ने मनुष्यों को देवानुप्रिय कह कर संबोधित किया है। यह नरभव-रत्न मिल जाना साधारण बात

नहीं है। मनुष्यजन्म की परीक्षा महान् पुण्यशाली ही कर सकते हैं। हीरे की पहचान जौहरी के सिवाय और कौन कर सकता है?

एक कुम्हार को मिट्टी खोदते समय हीरा मिल गया। मगर वह उसके मूल्य को जानता नहीं था। उसने समझा यह कोई चमकदार मणिया है। इसे गधी के एक महीने के बच्चे के गले में बांध दूँ तो वह बड़ा सुन्दर प्रतीत होगा। यह सोचकर उसने गधी के बच्चे के गले में वह हीरा बांध दिया।

एक दिन कुम्हार उस बच्चे को साथ लिये बाजार में सौदा खरीदने गया। किसी व्यापारी ने उस चमकीले मणिये को देखकर कीमत पूछी — भाई, इस मणिये का क्या मोल है?

कुम्हार बोला—सवा सेर गुड़।

वणिक् स्वयं भी उसका असली मूल्य नहीं जानता था। अतएव उसने अपनी तराजू की शोभा बढ़ाने के लिए उसकी डंडी में बांध लिया। कुछ समय बाद अचानक एक जौहरी उस वणिक् की दूकान पर जा पहुँचा। उसने उस हीरे को देखते ही उसका मूल्य पूछा वणिक् ने पाँच रुपये माँगे। जौहरी ने दो आने कम पाँच रुपये लेने को कहा। वणिक् ने दो आने कम लेना स्वीकार नहीं किया। जौहरी बाहर से वहाँ आया था। उसने सोचा-अभी जल्दी क्या है? दूसरी बार आऊँगा और वणिक् नहीं मानेगा तो पूरे पाँच रुपये दे दूँगा। पहले भोजन आदि से निवृत्त हो लूँ।

इस प्रकार सोचकर जौहरी खाने-पीने का सामान तुलवा कर गाँव के बाहर एक बगीचे में चला गया और भोजन बना, खा-पीकर आराम से सोगया।

संयोग से कोई दूसरा जौहरी उसी दूकान पर पहुँचा और वह भी सामान तुलवाने लगा। उसकी नजर भी हीरे पर पड़ी। कीमत पूछने पर वणिक् ने वही पाँच रुपये कहे। जौहरी ने उसी समय पाँच रुपये निकाल कर दे दिये और हीरा ले लिया। हीरा लेकर वह उसी समय दिल्ली के लिए रवाना हो गया।

पहला जौहरी जब सोकर उठा तो फिर उसी वणिक् की दूकान पर पहुँचा और उस हीरे को माँगने लगा। वणिक् ने कहा—सेठजी, वह पूरे पाँच रुपये में बिक गया! यह कह कर उसने दूसरे जौहरी के आने और हीरा खरीद ले जाने का हाल बतलाया।

पहले जौहरी के पश्चात्ताप और खेद का पार न रहा उसे इतना दु ख हुआ, मानों सर्वस्व लुट गया हो। अन्त में उसने कहा-अरे! वह तो सवा लाख मोहरों की कीमत का था!

वणिक् ने कहा-पछतावा हो तो तुम्हें हो। मुझे तो सवा सेर गुड़ के बदले पाँच रुपये मिल गए। मैं घाटे में नहीं हूँ।

जौहरी ने पूछा-अच्छा, वह किधर गया है? वणिक् ने कहा-मुझे पाँच रुपयों से मतलब था सो उसने उसी समय दे दिए। उसी के बाद उसकी गति-विधि पर निगाह रखना मेरा काम नहीं था।

भाइयो! यह मनुष्य जन्म अनमोल हीरा है। इसे जो प्रमाद में गँवा देते हैं उन्हें इस जौहरी से भी अधिक पश्चात्ताप करना पड़ता है। अतएव प्रमाद में पड़ कर इसे व्यर्थ न गँवाओ।

देखो, करनी करने का यही अनुकूल अवसर है। वसुदेवजी ने करनी की तो उसका फल उन्हें मिला। वे स्त्रीजनवल्लभ कहलाए और सुखों के भागी हुए। वसुदेवजी सौरीपुर नरेश समुद्रविजय के भ्राता

थे। जब वे बालक थे तो क्रीड़ा करने के निमित्त बाहर निकल जाया करते थे। ज्यों ही वह बाहर निकलते कि हजारों बाल, युवा, वृद्ध नारियां उनके अनुपम रूप को निहारने के लिए घर का सारा काम-काज छोड़ कर भागी आती थीं। जैसे राजाओं में चक्रवर्ती भरत महाराज, समस्त सुरों में इन्द्र और गजों में ऐरावत श्रेष्ठ माना जाता है, उसी प्रकार समस्त राजकुमारों में वसुदेवजी श्रेष्ठ माने जाते थे।

नारी जाति के हृदय में उनके प्रति अदम्य आकर्षण था। जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार उनकी सलौनी सूरत स्त्रियों के हृदय को बलात आकर्षित कर लेती थी। उनकी इस नारी वल्लभता को देख कर नगर निवासी तंग आ गए, क्योंकि उनकी स्त्रियाँ वसुदेवजी की तरफ खिची हुई चली जाती थी। जो उन्हें अरुचिकर होता, असह्य होता और जिससे उनका नुकसान भी होता था। नगर में सर्वत्र इस बात की चर्चा होती और सभी लोग कोई न कोई उपाय करने की सोचते। मगर वसुदेवजी थे राजकुमार! फिर वे अपनी ओर से किसी को आकर्षित करने की चेष्टा भी नहीं करते थे। अतएव किसी को उनकी किसी हरकत के खिलाफ कहने का मौका नहीं मिल सकता था। किन्तु लम्बे समय तक यह बात चलने भी कैसे दी जाय?

आखिर एक दिन नगर के प्रतिष्ठित पुरुष मिल कर राजसभा में पहुँचे। जब महाराज ने आने का प्रयोजन पूछा तो एक वृद्ध ने कहा–अन्नदाता! असल में तो हमारा ही सिक्का खोटा है, सर्राफ का क्या दोष है? हम प्रजाजनों की स्त्रियां निरंकुश हो गई हैं। जब भी वसुदेवजी महल से बाहर निकलते हैं और बाजार या गली में पहुँचते हैं, तो सभी स्त्रियां उनके पास भागी-भागी चली जाती हैं, जैसे किसी ने प्रबल जादू कर दिया हो या कोई अज्ञात आकर्षण

उन्हें अपनी पूरी शक्ति के साथ जबर्दस्ती खींच रहा हो। कठिनाई यह है कि हमारे पास इसका कोई इलाज नहीं है। अतएव हम यह सोचकर आए हैं कि अपने-अपने मकानों की चाबियां श्रीमान् को संभलाएँ और अन्यत्र कहीं जाकर बस जाएँ। अगर हम लोग इस नगर का परित्याग न करेंगे तो सारी सामाजिक मर्यादाएँ धूल में मिल जाएँगी और नैतिकता के बन्धन टूट जाएँगे। अपने पूर्वजों की भूमि का परित्याग करना शायद ही कोई चाहे, मगर विवशता के वशीभूत होकर कभी ऐसा करना ही पड़ता है। यह हम लोगों का विचार है। फिर आपका जो आदेश होगा, वह हमें शिरोधार्य है।

भाइयों! जिस समय की यह घटना है, उस समय के राजा निरंकुश नहीं थे। प्रजा का शोषण करना ही वे अपना कर्त्तव्य नहीं समझते थे। उस समय का राजा परिवार के मुखिया के समान था। जैसे परिवार अपने मुखिया का आदर करता है, उसकी आज्ञा के अनुसार व्यवहार करता है और उसे सर्वोपरि मानता है, परन्तु मुखिया भी परिवार की सुख-सुविधा के लिए अपने सुख की उपेक्षा कर देता है। उसके समस्त प्रयत्न परिवार को सुखी और सन्तुष्ट रखने के लिए ही होते हैं। उसका अपना जैसे कोई व्यक्तित्व ही नहीं होता। परिवार का सुख ही उसका अपना सुख होता है और परिवार का दुःख उसका दुःख। उसके इस त्याग के कारण ही उसे मुखिया का पद प्राप्त होता था। इसी प्रकार उस समय के राजा का व्यक्तित्व भी प्रजामय होता था। वह प्रजाजनों के सुख और समृद्धि में ही अपनी सुख-समृद्धि समझता था। उसका निग्रह और अनुग्रह दोनों ही प्रजा के लाभ के उद्देश्य से होते थे।

तो समुद्रविजयजी ने नागरिकों की बात बड़े ध्यान से सुनी। वह चाहते तो कह सकते थे कि अगर तुम्हारे घर की महिलाएँ निरंकुश हो गई हैं तो उनको तुम्हीं सुधारो। इसमें मैं क्या कर सकता हूँ! हाँ वसुदेव का अगर कोई अपराध हो तो कहो! पुण्य के प्रबल उदय से उसे अगर सुन्दर और सलौना मुखड़ा मिला है तो यह उसका कोई अपराध नहीं है। वह अपना चेहरा बदल नहीं सकता। उसे अपने चेहरे को विकृत कर लेने के लिए भी कैसे कहा जा सकता है?

अगर समुद्रविजयजी ऐसा उत्तर देते तो नागरिक जन क्या प्रत्युत्तर दे सकते थे? उन्हें चुप ही रहना पड़ता। मगर नहीं, उन्होंने ऐसा उत्तर नहीं दिया। नागरिकों को महाराज समुद्रविजयजी ने धैर्य बँधाया और कहा—आप लोग चिन्ता न करें। इसका समुचित प्रतीकार किया जाएगा।

नागरिक जन वापिस लौट आए और महाराजा अपने महल चले गए। किन्तु उनके दिमाग में प्रजाजनों की कठिनाई बराबर घूम रही थी और वे कुछ चिन्तित दिखाई देते थे। महारानी ने उनके चिन्तापूर्ण चेहरे को देख कर पूछा—प्राणनाथ! आज आप जल्दी ही सभा भवन से पधार गए और चिन्ताग्रस्त दिखलाई देते हैं, इसका क्या कारण है?

राजा ने समस्त वृत्तान्त बतलाया और कहा-बोलो महारानी! इस रोग का क्या इलाज करना चाहिए?

महारानी पहले तो कुछ मुस्करायी और फिर कहने लगी—वसुदेवजी को महल से बाहर न निकलने देना ही इसका उचित

इलाज है। किन्तु महल में भी अगर उनका जादू चल गया तो आपकी चिन्ता चौगुनी बढ़ जाएगी। समुद्रविजयजी भी इस परिहास से मुस्करा दिये। फिर बोले मुझे आशा है, ऐसा अवसर नहीं आएगा।

राजा और रानी के बीच इस प्रकार का वार्तालाप चल ही रहा था कि अकस्मात् उसी समय वसुदेवजी भी वहां जा पहुँचे। वह आते ही बड़े भाई की गोद में जा बैठे।

कितनी सरलता! कैसा हार्दिक स्नेह! जैसे छोटा भाई बड़े भाई को चाहता था, उसी प्रकार बड़ा भाई भी छोटे भाई पर हार्दिक अनुराग रखता था। आज कहाँ देखने को नसीब होता है ऐसा स्नेह। आज तो छोटी-छोटी बातों पर अर तुच्छ से तुच्छ स्वार्थ के लिए भाई भाई का शत्रु बन बैठता है। एक दूसरे का गला काटने को तैयार रहता है। न्यायालयों की शरण में जाते तो सैकड़ों मिलेंगे। मनुष्य के विचारों की यह तुच्छता देखकर किसे परिताप न होगा? कहां तो भारतवर्ष का आदर्श है कि—वसुधैव कुटुम्बकम अर्थात् पृथ्वी के समस्त प्राणियों को अपना कुटुम्बी समझना चाहिए और कहां इतनी संकीर्ण भावना कि एक भाई दूसरे भाई के अधिकारों को हड़प जाना चाहता है और उसका उचित भाव भी उसे नहीं देना चाहता! किन्तु भाइयों! जिसके अन्तःकरण में धर्म प्रेम है और जो न्याय नीति के साथ व्यवहार करना चाहता है, उसे ऐसी तुच्छ भावनाओं को स्थान नहीं देना चाहिए।

हां, तो जब वसुदेवजी अपने बड़े भाई की गोदी में बैठ गये तो उन्होंने स्नेह से गद्गद् कर रानी से कहा—आजकल कुमार दुबला क्यों दिखाई पड़ता है? क्या इसके खाने-पीने का ध्यान नहीं रखती हो?

रानी ने उत्तर दिया—खाने-पीने में तो पूरी सावधानी बरत रही हूँ, परन्तु कुमार आजकल इधर-उधर बहुत भटकते हैं। न धूप देखते हैं, न छाया। न दिन देखते हैं, न रात। जब भी उमंग उठती है, बाजार में निकल पड़ते हैं। देखिए न, इसी कारण से दुबले होते जा रहे हैं। आप इन्हें हटक दें तो मानें।

समुद्रविजयजी महारानी के इस उत्तर का मर्म समझ गए और अवसर पाकर बोले—सुनो वसुदेव, शरीर की ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है। सभी प्रकार के विकास के लिए शरीर स्वस्थ और सबल रहना चाहिए। दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति अपने जीवन में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। उसका जीवन उसी के लिए भार रूप बन जाता है। अतएव तुम अब बाज़ार में कभी मत निकलना। धूप में खेलने से तबियत खराब हो जाती है। राजमहल खूब लम्बा-चौड़ा है। यहाँ मनोरंजन की सभी सामग्री विद्यमान है। जो न होगी सो आ जाएगी। मगर तुम्हें बाहर नहीं निकलना चाहिए।

वसुदेवजी आज्ञाकारी अनुज थे। उन्होंने बिना संकोच किये ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा अंगीकार की।

अब वसुदेवजी राजमहल में और राजमहल के उद्यान में ही क्रीड़ा करने लगे। संयोगवश एक दिन एक दासी कटोरे में घिसा हुआ चन्दन ले जा रही थी ज्यों ही कुमार वसुदेव की दृष्टि उस पर पड़ी, उन्हें शरारत सूझी। उन्होंने उस चन्दन को ढोल दिया। दासी ने कहा—इन्हीं करतूतों की बदौलत तो महल से बाहर जाना रोक दिया गया है! फिर भी नहीं मानते और बराबर कुछ न कुछ शरारत करते ही रहते हो! न जाने कुछ और बड़े होकर क्या गजब ढाओगे।

दासी की बात पर वसुदेव का ध्यान आकर्षित हुआ। उन्होंने पूछा-क्या तू सच कहती है कि मेरी शरारत के कारण ही महल से बाहर मुझे नहीं जाने दिया जाता? किसने तुमसे यह कहा है?

दासी ने कुमार को सारा वृत्तान्त कह सुनाया। किस प्रकार नगर निवासी जन महाराज के पास फरियाद लेकर आए और किस प्रकार चतुराई से महाराज ने तुम्हें बाहर जाने से रोक दिया, यह सब बात दासी ने कुमार पर प्रकट कर दी।

दासी के मुख से सारी कैफियत सुनकर वसुदेव के हृदय को बिजली का सा झटका लगा। वह राजकुमार थे और आत्मसम्मान का भाव उनकी रग-रग में व्याप्त था। उन्होंने सोचा-भाई साहब ने बड़े कौशल के साथ मुझे राजमहल में कैद कर रक्खा है। उनका उद्देश्य अच्छा ही होगा। हित भावना से ही उन्होंने ऐसा किया होगा। इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं है। वे कदापि मेरा अनिष्ट नहीं चाह सकते। मगर कुछ भी हो, मुझे ऐसी स्थिति में यहाँ रहना उचित नहीं है। जब प्रजाजन मेरी सूरत नहीं देखना चाहते और मेरी सूरत से खतरा अनुभव करते हैं तो मुझे कहीं अन्यत्र चल देना ही योग्य है। यह पृथ्वी बहुत विशाल है और मनुष्य कहीं भी जाकर और पुरुषार्थ करके अपनी जीवन यात्रा सफलता के साथ पूर्ण कर सकता है।

कुमार ने ऐसा विचार किया और साथ ही निश्चय भी कर लिया। उन्होंने सौरीपुर का परित्याग कर देना ही समुचित समझा और मन ही मन योजना निश्चित कर ली। उन्होंने अपने एक अत्यन्त विश्वस्त नौकर को अपना विचार बता दिया और उसे तैयार रहने का आदेश दिया।

रात्रि का समय आने पर वह घोड़े पर सवार होकर नौकर को साथ लेकर राजमहल से बाहर हो गए। कुछ दूर जाकर घोड़ा नौकर को सौंप दिया और अपने खून से एक पत्र लिखकर महाराज समुद्र-वजयजी को देने के लिए उसे दे दिया। नौकर अत्यन्त विषाद के साथ वापिस लौट पड़ा।

अब वसुदेवजी अकेले और पूर्ण स्वतंत्र थे। पर वह सोच रहे थे कि इस रूप और चेहरे को लेकर मैं छिप नहीं सकता। जहाँ भी जाऊँगा, पहिचान लिया जाऊँगा और फिर बखेड़े में पड़ जाऊँगा। अतएव उन्होंने वेष परिवर्त्तन करने का निश्चय किया। राजकुमार का वेष त्याग दिया और ब्राह्मण का वेष धारण कर लिया। अब वह ब्राह्मण कुमार बन कर आगे चल दिये।

नौकर ने आकर पत्र राजा को दिया। पत्र देखते ही राजमहल में हाहाकार मच गया। वसुदेव कुमार को सभी लोग हृदय से चाहते थे और असीम प्रेम करते थे। उनके इस प्रकार यकायक चले जाने से सभी को असीम दु ख हुआ। नगर में भी बिजली के वेग के समान यह दुःखवाद फैल गया। समस्त नगरवासी भारी दुःख से पीड़ित हुए। वे भी कुमार को हृदय से चाहते थे। सच तो यह है कि कुमार ऐसा प्रणयजनित अतिशय था कि उन्हें देखकर कोई भी प्रेम किये बिना रह ही नहीं सकता था। प्रत्येक दर्शक का हृदय अनायास ही उनकी ओर खिंचा चला जाता था। नागरिकों ने जब फरियाद की तो स्वप्न में कल्पना नहीं थी कि इस फरियाद का नतीजा इतना भयंकर होगा। अतएव वे लोग अपने को कोसने और धिक्कारने लगे। दूसरे भी उन पर अपने वचन-बाणों की वर्षा करने लगे। मगर अब पछताने के सिवाय और क्या चारा था?

जब राजमहल और सम्पूर्ण नगर शोक-सागर में डूबा हुआ था, तब एक निमित्तवेता नौकार की तरह आया और उसने सबको उबारते हुए कहा—घबराने की आवश्यकता नहीं। कुमार अपने पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रभाव से खूब ऋद्धिसिद्धि प्राप्त करके लौटेंगे। इस पुण्यशाली पुरुष के जीवन को कोई खतरा नहीं।

निमित्तवेत्ता की भविष्यवाणी सुनकर सब के जी में जी आया।

वसुदेवजी स्त्रीवल्लभ तो थे ही। जहाँ पहुँचे वहीं उन्हें कन्याओं की प्राप्ति हुई। एक बार घूमते-घूमते वह एक स्वयंवर में जा पहुँचे और बाजा बजाने वाले का रूप धारण करके बाजा बजाने लगे। स्वयंवर में उस समय के बड़े-बड़े राजा सभी मौजूद थे।

राजकुमारी रोहिणी वरमाला लिये हुए आई और सब राजाओं को देखती हुई तथा सब का परिचय प्राप्त करती हुई आगे बढ़ती गई। उसकी दृष्टि वसुदेव पर पड़ी और उनका दिव्य, अनुपम सौन्दर्य देखकर वह चकित रह गई। हृदय की अनिवार्य प्रेरणा से उसने उनके गले में वरमाला डाल दी।

राजाओं का खून उबल पड़ा। राजाओं को छोड़कर एक बाजे वाले का वरण करना उन्हें सहन नहीं हुआ। उन्होंने कहा—यह हर्गिज़ न होगा! बाजे वाला राजकुमारी का पति नहीं हो सकता।

आगे का वृत्तान्त यथासमय कहने की भावना है। किन्तु इतना तो कह ही देना चाहिए कि वसुदेव की इस सफलता का मूल कारण उनके द्वारा उपार्जित किया हुआ पुण्य ही था। जो जीव दूसरों को साता पहुँचाते हैं, दान करते हैं अथवा किसी अन्य उपाय से पुण्य का संचय करते हैं, उन्हीं को आगे चलकर सुख की सामग्री मिलती है। उन्हें उसे प्राप्त करने के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। इसके विपरीत, जिन्होंने पुण्य का संचय नहीं किया है, वे कितना ही प्रयास करें और चोटी से एड़ी तक पसीना बहावें, परन्तु उनका जीवन दुःखमय और दरिद्रतापूर्ण ही रहता है। वे नाना

प्रकार के रोगों से पीड़ित रहते हैं। कहीं सन्मान नहीं पाते। कहीं उनकी पूछ नहीं होती। उन्हें परिवार भी मिलता है तो ऐसा कि जिसके निमित्त से सदा चित्त में क्लेश रहता है।

भाइयो! पुण्य और पाप के फल आपकी आखों के सामने हैं। इतने बड़े संसार में कहीं भी उन्हें देख सकते हैं। अतएव पाप को त्याग कर पुण्य का संचय करोगे तो संसार में सुखी होओगे और क्रम से मोक्ष का मार्ग प्राप्त करोगे।

ब्यावर
२०-८-४१

आत्मा सो परमात्मा

卐

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ ।
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतोननु तेन किं वा,
भूत्याऽऽश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥

भगवान् श्री ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान भगवन् ! कहां तक आपकी स्तुति की जाए ? आपके गुणों का कहां तक गान किया जाए ?

हे मरुदेवी के नन्दन ! हे सुर-नरकृत वन्दन ! हे तीनों लोको के भूषण ! हे जगत् के नाथ ! आपकी महिमा अपरम्पार है । जो भव्य प्राणी आपके सद्भूत गुणों की स्तुति करता है, जो आपकी सेवा-भक्ति करता है, जो आपके उपदेश को भक्ति पूर्वक श्रवण करता है, उस पर श्रद्धा करता है और उसके अनुसार आचरण करता है, उसे आप अपने ही समान बना लेते हैं ।

वास्तव में स्वामी हो तो ऐसा हो ! उस स्वामी की सेवा से क्या लाभ है जो जिन्दगी भर सद्भाव से सेवा करने वाले को भी सेवक ही बना रहने देता है और अपने समान नहीं बनाता ! सच्चा और आदर्श स्वामी वही कहलाता है जो अपने सेवक की प्रामाणिकता एवं निष्ठा से परिपूर्ण सेवा वृत्ति से सन्तुष्ट होकर उसका समुचित प्रतिदान देता है और उसे अपने समकक्ष बना लेता है।

कोई गरीब आदमी किसी मालदार की सेवा शुश्रूषा करे और मालदार यदि सहृदय हो तो उसे भी मालदार बना लेता है। तो हे प्रभो ! आप तो राग-द्वेष से सर्वथा रहित तथा अनन्त शक्तिमान् हो और प्राणी मात्र पर समभाव धारण करने वाले हो । आप अपने भक्त को अपने समान बना लें तो क्या आश्चर्य की बात है।

आशय यह है कि जो आपके द्वारा बतलाये हुए तत्त्व पर अचल आस्था रखता है और आपके उपदिष्ट मार्ग पर ही चलता है, वह परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है । ऐसी अनुपम महिमा से मण्डित, हे ऋषभदेव भगवन् ! आपको ही हमारा वार-वार नमस्कार है।

भाइयो ! इस स्तुति में आचार्य श्रीमानतुंग ने एक महान् महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। संसार में कई ऐसे मत प्रचलित हैं, जिन्होंने इस विश्व में तीन चीजों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। स्वतन्त्र सत्ता का मतलब यह है कि यों तो संसार में अनगिनती वस्तुएं हैं, किन्तु वे मौलिक नहीं है। एक ही प्रकार की वस्तु नाना रूप धारण करके हमारे सामने आती है और वस्तुओं की संख्या बढ़ा देती है। उदाहरण के लिए लकड़ी को ही लीजिए। लकड़ी मूल में तो लकड़ी ही है, परन्तु कारीगर की कुशलता के

कारण उसके कितने रूप आपके सामने आते हैं। मेज, कुर्सी, सन्दूक, पेटियां, खिलौना आदि आदि हजारों चीजें लकड़ी के विविध रूपान्तर हैं। इसी प्रकार अगर आप मिट्टी की तरफ दृष्टि दौड़ाएं तो भी आपको उसके अनगिनत रूप दिखाई देंगे। अन्यान्य वस्तुओं का भी यही हाल है।

मगर तत्ववेत्ता जानता है कि लकड़ी और मिट्टी भी कोई स्वतन्त्र-वस्तुएं नहीं हैं। जैसे मेज कुर्सी पाटा आदि एक लकड़ी की ही अवस्थाएं हैं, उसी प्रकार लकड़ी और मिट्टी भी एक ही द्रव्य के परिणाम हैं। इस प्रकार पदार्थों की मौलिक एकता पर जब दृष्टिपात करते हैं तो जो वस्तुएं कदापि अपने मूल स्वरूप को नहीं छोड़तीं, वे मौलिक कहलाती हैं।

तो कई लोगों का कहना है कि संसार में तीन मूल भूत वस्तुएँ हैं आत्मा, ईश्वर और जड़ पदार्थ। जैसे आत्मा कभी जड़ नहीं हो सकता और जड़ कभी आत्मा नहीं हो सकता, इसी प्रकार आत्मा कभी ईश्वर नहीं बन सकता। लाख-लाख सुकृत्य करने पर भी और हजारों जन्मों तक घोर तपश्चर्या करने पर भी आत्मा ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित नहीं होगा। वह भले मुक्तात्मा बन जाय पर ईश्वर नहीं बनेगा। ईश्वर तो अनादि काल से एक ही है और अनन्त काल तक एक ही रहेगा।

किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। क्या ईश्वर यह नहीं चाहता कि कोई मेरे बराबर हो सके? ईश्वर के बराबर अगर कोई दूसरा हो जाय तो क्या उसकी पोजीशन में बट्टा लग जायगा? उसका ईश्वरत्व बंट जायगा तो उसमें कोई कमी हो जायगी? नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं है। अगर कोई जीव धर्म एवं संयम की आराधना करके

जैसे मक्खन और घी में भेद है वैसे ही आत्मा और परमात्मा में भेद है। जैसे मक्खन को आग पर गर्म करने से उसमें मिली छाछ जल जाती है और शुद्ध घी रह जाता है, उसी प्रकार आत्मा के पीछे लगे हुए अष्ट कर्म रूपी छाछ को तपस्या रूपी अग्नि पर गर्म करने से आत्मा विशुद्ध हो जाती है और वही विशुद्ध आत्मा परमात्मा कहलाती है। कहा है—

वह पारस क्या पारस है जो,
लोहे को पारस नहीं कर दे।
वह शक्ति है परमातम में,
जो आत्मा को परमात्मा कर दे॥

ईश्वर पारस के समान है। जैसे पारस पाषाण के संयोग से लोहा सोना बन जाता है, उसी प्रकार परमात्मा के सान्निध्य से आत्मा परमात्मा बन जाती है। परमात्मा में पारस से भी बड़ी विशेषता है। पारस लोहे को सोना बना कर ही रह जाता है, पारस नहीं बनाता, मगर जो आत्मा परमात्मा के संयोग में आता है, वह परमात्मा ही बन जाता है।

भाइयो! गजसुकुमारजी ने दीक्षा क्यों ग्रहण की? वह यदुवंश के नायक और तीन खंड के नाथ वासुदेव कृष्णजी के अत्यन्त लाडले लघुभ्राता थे। उस समय का संसार का उत्कृष्ट से उत्कृष्ट मानवीय वैभव उनके चरणों में लोटता था। किस वस्तु की कमी थी उनको? और आज हम जैसे लोग क्यों साधु बने हैं? क्यों नाना प्रकार के परीषहों को सहन करते हैं? क्यों भिक्षा पर निर्वाह करते हैं और केशों का हाथ से लुंचन करते हैं? यह सब इसीलिए करते हैं कि हमने वीतराग के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा की है।

अगर भगवान् के वचनों पर विश्वास न होता तो कृष्ण जैसे भाई और द्वारिका जैसी देवनगरी के समान नगरी को छोड़कर गजसुकुमारजी साधु क्यों बनते ? और मस्तक पर अग्नि क्यों रखवाते ?

आप भी तपस्या करके अपने शरीर को क्यों सुखाते हैं ? आपके घर में रोटियों की कमी तो है नहीं। पर भाई! वीतराग का मार्ग बड़ा कठिन है। वीर पुरुष ही इस मार्ग का अनुसरण करते हैं। कायरों का यहाँ काम नहीं है। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने स्वयं ही फरमाया है—

'पणया वीरा महावीहिं।'

अर्थात्—उपसर्गों और परीषहों से भयभीत न होने वाले वीर पुरुष ही इस तपस्या के मार्ग पर चले हैं और वही चल सकते हैं।

जो पराक्रमी वीर इस मार्ग पर चले और चलते ही चले गये वे एक दिन मोक्ष में पहुँचे और जो चलेंगे, वे मोक्ष प्राप्त करेंगे।

अभिप्राय यह है कि जो अन्तःकरण की अविचल श्रद्धा से भगवान् के मार्ग का अनुसरण करते हैं और गुणस्तवन करते हैं, वे भाग्यवान् स्वयं भगवान् बन जाते हैं।

श्रीमत ठाणांगसूत्र में वर्णित चौभंगियों का थोड़ा-थोड़ा जिक्र चल रहा है। कल एक चौभंगी आपको बतलाई गई थी जिसमें चार प्रकार के पुरुषों का उल्लेख था। दूसरे प्रकार से भी चार प्रकार के पुरुष कहे गये हैं। यह चौभंगी इस प्रकार है—

१—कोई-कोई सब तरह से युक्त हैं और शोभनीय भी हैं।

२—कोई युक्त होते हैं, पर शोभनीय नहीं।

३—कोई शोभनीय होते हैं, परन्तु युक्त नहीं।

४—कोई युक्त भी नहीं होते और शोभनीय भी नहीं होते।

भाइयो! संसारी जीव के पीछे शुभाशुभ कर्म के झगड़े लगे हुए हैं। जब जीव अशुभ कर्म करता है और उसका उदय आता है तो मर कर नरक में जाता है और शुभ कर्म करने पर स्वर्ग में चला जाता है। नरक या स्वर्ग की आयु पूर्ण होने पर अगर वह जीव मनुष्य योनि में जन्म लेता है और वहाँ कर्म भोगते-भोगते कुछ बाकी रह जाते हैं, तो उनकी झलक उस मनुष्य पर पड़ती है और उनके कारण जो लक्षण प्रकट होते हैं, उनसे हम जान सकते हैं कि यह जीव नरक से आया है अथवा स्वर्ग से? इस प्रकार जानना अनुमान से जानना कहलाता है। अनुमान भी प्रमाण माना जाता है। जैसे अग्नि न दिखाई देने पर भी धूम के दर्शन से अग्नि का अनुमान से ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष की तरह स्पष्ट नहीं होता, तथापि प्रत्यक्ष की तरह ही अभ्रान्त होता है।

नरक से आए हुए जीवों की पहचान है—अपने भाई बन्धुओं से लड़ना, माता को गाली देना, बाप से झगड़ना, क्रोधी होना, गुणी जनों के प्रति घृणा होना, अवगुणी का शुभचिन्तक होना और मारकाट से प्रेम होना। कहा भी है—

नरस्य चिह्नं नरकागतस्य,
विरोधिता बन्धु जनेषु नित्यम्।
सरोगता नीचगतेषु सेवा,
ह्यतीव दोषा कटुका च वाणी॥

अर्थात् अपने बन्धु-बान्धवों के प्रति सदैव विरोध का भाव रखना, हमेशा बीमारी का शिकार रहना, नीच जनों की सेवा-संगति करना, नाना प्रकार के दोषों से युक्त होना और कटुक वचनों का प्रयोग करना, ये सब नरक योनि से आए हुए जीव के लक्षण हैं।

तिर्यंचगति से आए जीव के लक्षण बतलाते हुए कहा गया है:—

बह्वाशी नैव सन्तुष्टो, मायावी च क्षुधाधिकः।
स्वयंन्मूढोऽलसश्चैव, तिर्यग्योन्यागतो नरः॥

जो दानव की तरह या भूखभरे की तरह बहुत खाता हो, जिसे कभी सन्तोष प्राप्त न होता हो, जो बात-बात में छल-कपट करता हो, जिसे बहुत भूख सताती हो, जो दिन-रात सोने में मजा मानता हो, हिता-हित के विवेक से शून्य हो और आलस्य से ग्रस्त रहता हो तो, समझना चाहिए कि वह मनुष्य तिर्यंच गति से आया हुआ है।

मनुष्य गति में आए हुए जीव की पहिचान निम्नलिखित लक्षणों से की जा सकती है—

जो कम लालच करे, नम्र और विनीत हो, दयालू हो, हृदय का मृदु हो, अच्छे कार्य करने में निडर हो मध्यस्थभाव से सम्पन्न हो और जो पक्षपात में न पड़ता हो, समझना चाहिए कि जीव मनुष्य गति से आया है। कहा भी है—

सन्तुष्टता मध्यमवर्तिता च,
स्वल्पश्च कोपो निष्कपटता च।
भोगाभिलाषे समचिन्तता च,
भवन्ति मानुष्यसमागतानाम्॥

अर्थात्—जो मनुष्य सन्तोषशील है, मध्यम वृत्ति वाला है, जिसे बार-बार और तीव्र क्रोध नहीं आता, जो कषाय की प्रचण्डता से रहित है और भोगों की अभिलाषा में जिसका चित्त सम रहता है, वह मनुष्यगति से आया हुआ मनुष्य है।

देवगति से आये हुए मनुष्यों के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं:—

स्वर्गच्युतानामिह जीवलोके,
चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।
दानप्रसंगो मधुरा च वाणी,
देवार्चनं पण्डिततर्पणञ्च ॥

अर्थात्—स्वर्गलोक से आये हुए जीवों में यह चार लक्षण देखे जाते हैं—वे दानशील होते हैं, उनकी वाणी में अमृत का मिठास होता है। वे भगवान के परम भक्त होते हैं और पण्डितों-विद्वानों को संतुष्ट करने वाले होते हैं।

दूसरी जगह कहा गया है—

वदान्यता धर्मगुरौ रुचिश्च,
नम्रस्वभावो मधुरा च वाणी।
उदारबुद्धिर्जनके च भक्ति—
श्चिह्नं नराणामरागतानाम् ॥

जो वदान्य हों, जिनके हृदय में उदार भावना निवास करती हो, जो धर्म और गुरु के प्रति हार्दिक प्रीति धारण करते हों, स्वभाव से नम्र और मधुरभाषी हों, जिनकी बुद्धि उदार हो और जो माता-

पिता के भक्त हों. समझना चाहिए कि वे देवगति से आये हुए मनुष्य हैं।

चार प्रकार की संज्ञाएँ होती हैं—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा। संज्ञा का अर्थ है अभिलाषा। इनमें से नारक जीवों में भय संज्ञा की अधिकता होती है। तिर्यंचों में आहार संज्ञा की, मनुष्यों में मैथुन संज्ञा की और देवों में परिग्रह संज्ञा की विपुलता पाई जाती है।

भाइयो! इन लक्षणों से अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को जानकर आपको यह मनुष्यभव सफल बनाना चाहिए। यह उत्तम मनुष्यभव बहुत बड़ा निधान है। इसे प्राप्त करके गफलत में मत पड़ो। एक बात सदा ध्यान में रक्खो, वह यह है कि एक दिन यहां से कूच कर जाना है। यदि यह भावना आपके चित्त में निरन्तर जागी रहेगी तो इससे आपको पवित्र प्रेरणा मिलेगी, जीवन को ऊँचा उठाने की अभिलाषा होगी, इस अल्पकालीन जीवन के सुख के लिए पाप का आचरण करने की इच्छा न होगी. इसलिए भाइयो! सावधान हो जाओ और मोह निद्रा को त्याग दो। कहा है—

तुम रहना यहां हुशियारा, जीवराज मुसाफिर प्यारा।
ऐ भोले परदेशी! दिन कितना यहां पर रहसी जी॥
कुछ दम का समझ गुजारा॥

भाइयो! जरा विचार करके देखो। अच्छी तरह सोचो, समझो, कितने दिन यहां रहना है? न जाने कहां से कौन आया है और कब कहां के लिए चल देगा। यह जीवन लम्बी मुसाफिरी का स्वल्पकालीन पड़ाव यह मंजिल नहीं है। यहां थोड़े समय ही रहना है और फिर आगे कूच कर जाना है। अतएव यहां

चिन्ता में ही मत डूबा रह—आगे की सोच। भविष्य के सुख के लिए प्रयत्नशील हो। आगे की चिन्ता नहीं की तो बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

लख चौरासी की घाटी करड़ी,
कैसे पार उतरसी रे ?
कौन छुड़ावे काल आय जब, घैंटी पकड़सीरे ?
ले संग खरची रे ॥

चौरासी की घाटी को पार करना बहुत कठिन है। वह मार्ग बड़ा विषम है। पहले से तैयारी किये बिना अरे भोले ! कैसे उसे पार कर सकेगा ? इसलिए ज्ञानी जन तुझे बार-बार समझाते हैं कि कुछ खर्ची ले ले। खाली हाथ जाने से काम नहीं चलने वाला है। भारी संकट में फँस जाएगा। अतएव गाफिल मत रह।

अगर अन्तःकरण के किसी कोने में यह बात घुसी हो कि मुझे कहीं नहीं जाना पड़ेगा तो इसे निकाल दे। संसार की कोई भी शक्ति तुझे जाने से नहीं बचा सकेगी। जो लोग पूर्व से पश्चिम तक सागर पर्यन्त पृथ्वी के नाथ थे, जिनकी आज्ञा को कोई चुनौती नहीं दे सकता था, जिनके पास जीवन की उत्तम से उत्तम सामग्री थी, वे भी चले गए। उनका साम्राज्य, उनका विपुल खजाना, उनकी विशाल सेना और प्रेमी परिवार सब कुछ यहीं रह गया। वे देखते रह गए। बिलखते रह गए, उन्हें कोई बचा नहीं सका। वे किसी को साथ न ले जा सके और की तो बात ही दूर, उनका शरीर भी [illegible]थ नहीं गया। गया केवल उनका उपार्जन किया हुआ पुण्य [illegible] पाप।

तो जो चीज साथ जाने वाली है, उसकी उपेक्षा करना और जो यहीं छूट जाने वाली है, उसी के लिए दिन-रात पचते रहना क्या बुद्धिमत्ता की निशानी है? नहीं, यह बुद्धि के दिवालियेपन का चिह्न है। अगर तेरी बुद्धि नष्ट नहीं हुई है तो हे भव्य! सच्ची स्थिति का विचार कर और विवेक के अनुसार चल। इसी में तेरा कल्याण है बहुत सा अनमोल समय बीत चुका और थोड़ा शेष रह गया है। जो शेष है, उसको सफल बनाने के लिए प्रयत्न कर।

वसुदेवजी ने पहले जो करणी की थी, उसी के फल स्वरूप राजमहल त्याग देने पर भी उन्हें सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। कल रोहिणी के स्वयंवर का हाल बतलाया गया था। यह भी कहा जा चुका है कि वसुदेवजी बाजा बजाने वाले के वेष में वहाँ मौजूद थे; फिर भी रोहिणी के अन्तःकरण में ऐसी कुछ आन्तरिक प्रेरणा उत्पन्न हुई कि उसने उन्हीं के गले में वरमाला डाल दी।

रोहिणी का यह चुनाव किसी को पसन्द नहीं आया। स्वयंवर में एक से एक बढ़ कर वीर और तेजस्वी राजा मौजूद थे। उन सब को छोड़ कर बाजा बजाने वाले को पसंद किया जाना भला उन्हें कैसे सहन हो सकता था? राजाओं ने इसे घोर अपमान समझा। स्वयंवर में उपस्थित सभी राजाओं ने वसुदेवजी को बुरी तरह फटकारा। सबकी नेत्रों से क्रोध की ज्वालाएँ बरसने लगीं। सबने मिल कर रोहिणी के चुनाव को नियम के विरुद्ध ठहराया। मगर कन्या के पिता ने स्पष्ट कह दिया। राजकुमारी को अपना पति चुनने की पूरी स्वाधीनता थी। स्वयंवर का अर्थ ही यह है। अतएव उसने जिसके गले में वरमाला डाल दी है, वही उसका पति हो चुका। इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार किसी को नहीं है।

नीतिनिपुण विदुरजी भी उस स्वयंवर में मौजूद थे। उन्होंने कहा—कम से कम वर की जाति का तो पता लगाना ही चाहिए।

यह सब बातें चुपचाप सुनने के पश्चात वसुदेवजी ने कहा—मुझे जाति बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। कन्या ने मेरा वरण किया है, अतएव वह मेरी पत्नी हो गई। यह स्वयंवर मंडप है कोई खेल-तमाशे की जगह नहीं है। फिर भी अगर कोई रोहिणी को वरण करना चाहता हो और किसी की भुजाओं में बल हो तो वह आ जाय रण में।

वसुदेवजी की गर्वोक्ति सुनकर जरासन्ध के क्रोध का पार न रहा। वह क्रुद्ध होकर बोला—लड़की के बाप को और इस उद्दण्ड छोकरे को अभी मार डालो। इसने स्वयंवर में आमन्त्रित करके हमारा घोर अपमान किया है।

जरासन्ध आदि युद्ध करने को आमादा हो गए। उधर राजा रुद्र की सेना वसुदेवजी की सहायता के लिए तैयार ही थी। युद्ध प्रारम्भ हो गया। वसुदेवजी ने युद्ध में ऐसा प्रचण्ड पराक्रम दिखलाया कि राजा दांतों तले उंगली दबाने लगे। उन्होंने शत्रुञ्जय वक्रदन्त और कौशलराज को धराशायी कर दिया। तब जरासंध बोला—है कोई शूरवीर, जो इस बालक से युद्ध कर सके। सबने समुद्रविजयजी को इस काम के लिए चुना। समुद्रविजयजी लड़ने के लिए सामने आए। दोनों वीरों का विस्मयजनक संग्राम लम्बे समय तक चलता रहा—न कोई विजयी हुआ और न पीछे हटा।

अचानक समुद्रविजयजी की दाहिनी आँख और भुजा फड़क उठी। वे इसका आशय यह समझे कि अब युद्ध में मेरी विजय निश्चित है। थोड़ासा जोर लगाते ही विजयश्री मुझे प्राप्त हो जाएगी।

इधर वसुदेवजी के विचारों में परिवर्तन आया। उन्होंने सोचा बहुत देर से भाई साहब को परेशान कर रहा हूँ। ज्येष्ठ भ्राता

साथ युद्ध करना उचित भी नहीं है। इन्हें अपना परिचय दे देना चाहिए। इस प्रकार विचार करके अपना परिचय देने के लिए इन्होंने एक चिट्ठी तीर में बांधी और वह तीर समुद्रविजयजी के चरणों में फेंक दिया।

चिट्ठी पढ़ते ही समुद्रविजयजी की प्रसन्नता का पार न रहा। वह युद्ध करना छोड़ कर तत्क्षण अपने प्राणप्रिय छोटे भाई से मिलने को दौड़ पड़े। उधर से वसुदेवजी भी सामने आए। दोनों बीच में मिले और आनन्द के सागर में डूब गए।

अपने छोटे भाई से मिल कर समुद्रविजयजी को बड़ी खुशी हुई। उधर यह अप्रत्याशित दृश्य देख कर सभी राजा लोग आश्चर्य के सागर में डूब गए। जब सब राजाओं को पता चला कि बाजा बजाने वाला कोई अज्ञातकुलशील व्यक्ति नहीं, वरन् समुद्र-विजय महाराजजी का अनुज है, तो सबके मन का समाधान हो गया। स्वयंवर मंडप में जो राजा विचारशील थे, उन्होने रोहिणी की बुद्धिमता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। सर्वत्र आतंक और भय के वातावरण के बदले प्रसन्नता व्याप्त हो गई। अन्त में वसुदेवजी के साथ रोहिणी का विधिवत् पाणिग्रहण हुआ। कुछ दिन तक राजा रुद्र के आतिथ्य को स्वीकार करने के पश्चात् समुद्रविजयजी वसुदेवजी और रोहिणी को साथ लेकर सौरीपुर पहुँचे।

वसुदेवजी को सौरीपुर त्यागे सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। आज सौ वर्ष का नाम सुनते ही आपको आश्चर्य होगा और किसी-किसी के मन में अविश्वास भी उत्पन्न हो सकता है। किन्तु इस आश्चर्य और अविश्वास का कारण मानव जाति का निरन्तर होने वाला ह्रास है। आज तो सौ वर्ष तक जिन्दा रहने वाला ही कोई

थ युद्ध करना उचित भी नहीं है। इन्हें अपना परिचय दे देना
हिए। इस प्रकार विचार करके अपना परिचय देने के लिए
न्होंने एक चिट्ठी तीर में बांधी और वह तीर समुद्रविजयजी के
रणों में फेंक दिया।

चिट्ठी पढ़ते ही समुद्रविजयजी की प्रसन्नता का पार न रहा।
वह युद्ध करना छोड़ कर तत्क्षण अपने प्राणप्रिय छोटे भाई से
मिलने को दौड़ पड़े। उधर से वसुदेवजी भी सामने आए। दोनों
बीच में मिले और आनन्द के सागर में डूब गए।

अपने छोटे भाई से मिल कर समुद्रविजयजी को बड़ी खुशी
हुई। उधर यह अप्रत्याशित दृश्य देख कर सभी राजा लोग
आश्चर्य के सागर में डूब गए। जब सब राजाओं को पता चला कि
बाजा बजाने वाला कोई अज्ञातकुलशील व्यक्ति नहीं, वरन् समुद्र-
विजय महाराजजी का अनुज है, तो सबके मन का समाधान हो गया।
स्वयंवर मंडप में जो राजा विचारशील थे, उन्होने रोहिणी की
बुद्धिमत्ता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। सर्वत्र आतंक और भय के
वातावरण के बदले प्रसन्नता व्याप्त हो गई। अन्त में वसुदेवजी के
साथ रोहिणी का विधिवत् पाणिग्रहण हुआ। कुछ दिन तक राजा रुद्र
के आतिथ्य को स्वीकार करने के पश्चात् समुद्रविजयजी वसुदेवजी
और रोहिणी को साथ लेकर सौरीपुर पहुँचे।

वसुदेवजी को सौरीपुर त्यागे सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे।
आज सौ वर्ष का नाम सुनते ही आपको आश्चर्य होगा और किसी-
किसी के मन में अविश्वास भी उत्पन्न हो सकता है। किन्तु इस
आश्चर्य और अविश्वास का कारण मानव जाति का निरन्तर होने
वाला ह्रास है। आज तो सौ वर्ष तक जिन्दा रहने वाला ही कोई

विरला मिलेगा और इसी कारण आश्चर्य होता है; मगर प्राचीन काल में मनुष्यों की आयु बहुत लम्बी होती थी। उस आयु में सौ वर्ष का अन्तराल एक साधारण-सी बात थी।

तो सौ वर्ष बाद जब वसुदेवजी सौरीपुर पहुँचे तो राज-परिवार में और प्रजाजनों में अपूर्व आह्लाद का वातावरण उत्पन्न हो गया। नगरनिवासियों ने उनसे क्षमायाचना की।

वसुदेवजी आनन्दपूर्वक सौरीपुर में निवास करने लगे। भाइयो, यह पुण्य के फल का वर्णन है। इसे पढ़कर आप पाप का परित्याग करेंगे तो आपका कल्याण होगा-आप सुखी होंगे।

ब्यावर
२१-८-४१

निष्काम भक्ति

卐

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्त दोषं,
त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्र किरणः कुरुते प्रभैव,
पद्मा करेषु जलजानि विकाशं भाञ्जि ॥

भगवान ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम भगवन् ! कहां तक आपकी स्तुति की जाय ? कहां तक आपके गुणों का गान किया जाय ?

हे जगद्गुरु पुरुषोत्तम सर्वोत्तम प्रभो ! आपकी तो बात ही दूर आपकी कथा भी, आपका नाम मात्र भी संसार के प्राणियों के पापों को नष्ट कर देता है । देवाधिदेव ! आप तो यहां से बहुत दूर लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं और निरंजन निराकार पद को प्राप्त हो चुके हैं, तथापि यहां आपकी स्तुति करने वालों के सम्पूर्ण

पाप कर्म क्षीण हो जाते हैं। जैसे जमीन से सैंकड़ों कोस दूर होते हुए भी सूर्य की किरणें जल में कमलों को विकसित कर देती हैं।

भाइयो! भगवान् के नाम स्मरण की महिमा कहां तक बतलाऊं? प्रभु के नाम में अद्भुत शक्ति है। उस शक्ति का बड़े-बड़े योगीश्वर भी पार नहीं पा सकते। उसे वाणी के द्वारा प्रकाशित करना तो एकदम असम्भव है। जो दृढ़ श्रद्धा के साथ और परिपूर्ण प्रीति के साथ भगवान् के नाम का स्मरण करते हैं, उनके लोकोत्तर गुणों का गान करते हैं, स्तवन करते हैं, जिनके हृदय में भक्तिरस का निर्मल स्रोत प्रवाहित होता है, उनके समस्त कल्मष धुल जाते हैं और उनकी आत्मा निर्मल हो जाती है। उनकी अन्तरात्मा में ऐसी दिव्य ज्योति प्रकाशित हो उठती है कि समस्त अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।

'परमात्मा' शब्द से ही ध्वनित होता है कि जो आत्मा समस्त विकारों और मलीनताओं से रहित हो चुकी है, जिसे अपने पूर्ण विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो चुकी है, जो अनन्त चैतन्य के अलौकिक आलोक से उज्ज्वल है और जो समस्त बाधाओं से अस्पृष्ट आत्मिक आनन्द की पूर्णता को प्राप्त कर चुकी है, वही सिद्ध, बुद्ध, भगवान् है। उसकी स्तुति करने से चित्त में सात्विकता और पावनता का प्रादुर्भाव होता है, जिससे कषायों का मैल नष्ट हो जाता है। यही परमात्मा की स्तुति के अनुपम महातम का मर्म है।

जिन भगवान् ऋषभदेवजी के नामस्तवन की ऐसी अपूर्व महिमा है, उन परम प्रभु को ही हमारा बार बार नमस्कार है।

एक जगह कहा गया है कि एक करोड़ बार की हुई पूजा (भाव पूजा) का फल भगवान् के गुणग्राम में गाये गये स्तवन के

बराबर भी नहीं है, अर्थात् करोड़ बार की हुई पूजा की अपेक्षा एक बार का गुणस्तवन भी अधिक फलप्रद है। एक बार का जप उस स्तवन से भी अधिक फलदायी है। एक करोड़ बार किये जप की अपेक्षा भी एक बार का ध्यान अधिक फल प्रदान करता है। और एक करोड़ बार के ध्यान की अपेक्षा निश्चल, प्रशान्त और पवित्र हृदय में स्थापित की हुई आत्मा-परमात्मा की तल्लीनता का फल अधिक फल है।

> पूजा कोटि समं स्तोत्रं स्तोत्र कोटि समो जपः।
> जप कोटि समं ध्यानं ध्यान कोटि समो लयः॥

इस प्रकार साधना के यह सोपान उत्तरोत्तर अधिक-अधिक फलदायी अवश्य हैं, किन्तु साधना साधक की योग्यता पर निर्भर करती है। प्रत्येक साधक की योग्यता एक-सी नहीं होती। जिसका जितना विकास हुआ है, उसी के अनुसार उसे साधना का चुनाव करना चाहिए और उसी सोपान पर खड़े होकर अपनी आत्मा का उत्थान करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस कथन का अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिए कि आज जो साधक जिस सोपान पर खड़ा है, वह जीवन पर्यन्त उसी पर खड़ा रहे और अग्रसर होने का प्रयत्न न करे। विद्यार्थी अपनी योग्यता के अनुसार एक कक्षा में प्रविष्ट होता है। अगर वह ऐसा न करे तो उसकी प्रगति असम्भव है। किन्तु ज्यों-ज्यों योग्यता बढ़ती जाती है, वह आगे की कक्षाओं में पहुँचता जाता है। अगर कोई विद्यार्थी जिन्दगी भर उसी कक्षा में बना रहे और एक भी कक्षा आगे न बढ़े तो उसे आप क्या कहेंगे? इसी प्रकार साधकों को भी अपने सोपान बढ़ाने चाहिए और अन्त में ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहिए कि आत्मा-परमात्मा में एकरूपता स्थापित हो जाय।

कहा जा सकता है कि जिनेन्द्र भगवान् न तो रागी हैं और न द्वेषी हैं, न कर्त्ता हैं, न हर्त्ता हैं, न उनमें किसी प्रकार की कामना है, न वे प्रसन्न या अप्रसन्न ही होते हैं। स्तुति से प्रसन्न होकर भक्त का अनुग्रह नहीं करते और निन्दा से अप्रसन्न होकर निग्रह नहीं करते। ऐसी स्थिति में उनकी स्तुति से क्या लाभ है? भजन तो उसका करना चाहिए जो प्रसन्न होकर हमारा भला कर सके।

इसका उत्तर यह है कि वास्तव में भगवान् की बुराई या भलाई से वे अप्रसन्न या प्रसन्न नहीं होते, क्योंकि वे पूर्ण वीत-रागभाव प्राप्त कर चुके हैं, लेकिन अपनी बुरी भावना का बुरा फल और अच्छी भावना का अच्छा फल तो प्राप्त होता ही है। यदि शुभ भावना रक्खोगे तो शुभ फल मिलेगा और अशुभ भावना होगी तो अशुभ कर्म का बन्ध होगा। भगवान में किसी प्रकार की कामना न होने पर भी जब हम भगवान् की स्तुति करते हैं तो अपनी प्रशस्त भावना का फल अवश्य प्राप्त करते हैं। कहा है—

मैं बढ़ाऊँ ज्योति अंजन चाहता न कदापि है,
किन्तु सेवन से दृगों की दृष्टि बढ़ती आप है,

भाइयो! नेत्रों की ज्योति बढ़ाने के लिए लोग अंजन का सेवन करते हैं, किन्तु अंजन जड़ पदार्थ है। वह अपने सेवन से प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर सकता। उसे यह भान नहीं होता कि मैं सेवन करने वाले की आँखों की ज्योति बढ़ा दूँ। फिर भी क्या सेवन करने वालों को लाभ नहीं होता? क्या उनके नेत्रों की ज्योति बढ़ नहीं जाती? अवश्य बढ़ती है। इसी प्रकार वीतराग भगवान् यद्यपि पूर्ण निष्काम हैं, तथापि जो भव्य उनका सेवन करते हैं, उनकी भक्ति करते हैं, उनको शुभ फल प्राप्त होता ही है। जैसी भक्त की भावना होगी, उसके अनुसार वह फल प्राप्त कर लेगा।

भावना तीन प्रकार की है— अशुभ भावना, शुभ भावना और शुद्ध भावना। हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन, परिग्रह, गुणी जनों की निन्दा, आदि की भावना अशुभ कहलाती है और उससे पाप का बंध होता है। जीवरक्षा, परोपकार, दान आदि की भावना शुभ है और पुण्यबंध का कारण है। शुद्ध भावना से कर्मों का नाश होता है। शुभ भावना स्वर्ग तक पहुँचाती है, जब कि शुद्ध भावना मोक्ष में दाखिल कर देती है।

एक बालक किसी एम. ए.एल-एल. बी. परीक्षा में उत्तीर्ण और उच्च पदासीन व्यक्ति को लक्ष्य में रख कर और उस सरीखा बनने की भावना हृदय में धारण करके अध्ययन करता है वह उसकी पद्धति का भी अनुसरण करता है और समय पाकर उसके समान बन जाता है। यद्यपि उस व्यक्ति ने उस बालक को जानकर कोई मदद नहीं पहुँचाई और न लाभ पहुँचाया, किन्तु वह बालक लक्ष्य के द्वारा उच्च पद पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार यदि हम परमात्मपदप्राप्ति को अपना लक्ष्य बना लें और जिस मार्ग पर चल कर उन्होंने परमात्मा का पद प्राप्त किया, उसी पर चलें और सच्चे एवं पवित्र अन्तःकरण से परमात्मा की स्तुति करें, भक्ति करें और तन्मयता की भावना का विकास करें तो हम अवश्य ही सब सुख प्राप्त करते हुए परमात्मपद तक पहुँच सकते हैं।

नींबू या इमली किसी बगीचे में है अथवा किसी कुंजड़े की टोकरी में पड़े हैं। मगर उनसे दूर रहा हुआ कोई व्यक्ति नींबू-इमली को याद करता है तो उसके मुख में पानी भर आता है और मुँह का जायका बदल जाता है। कहिए, कहाँ तो नींबू है और कहाँ आपके मुख में उसका असर पहुँच रहा है!

कहा जा सकता है कि जिनेन्द्र भगवान् न तो रागी हैं और न द्वेषी हैं, न कर्त्ता हैं, न हर्त्ता हैं, न उनमें किसी प्रकार की कामना है, न वे प्रसन्न या अप्रसन्न ही होते हैं। स्तुति से प्रसन्न होकर भक्त का अनुग्रह नहीं करते और निन्दा से अप्रसन्न होकर निग्रह नहीं करते। ऐसी स्थिति में उनकी स्तुति से क्या लाभ है? भजन तो उसका करना चाहिए जो प्रसन्न होकर हमारा भला कर सके।

इसका उत्तर यह है कि वास्तव में भगवान् की बुराई या भलाई से वे अप्रसन्न या प्रसन्न नहीं होते, क्योंकि वे पूर्ण वीत-रागभाव प्राप्त कर चुके हैं, लेकिन अपनी बुरी भावना का बुरा फल और अच्छी भावना का अच्छा फल तो प्राप्त होता ही है। यदि शुभ भावना रक्खोगे तो शुभ फल मिलेगा और अशुभ भावना होगी तो अशुभ कर्म का बन्ध होगा। भगवान में किसी प्रकार की कामना न होने पर भी जब हम भगवान् की स्तुति करते हैं तो अपनी प्रशस्त भावना का फल अवश्य प्राप्त करते हैं। कहा है—

मैं बढ़ाऊँ ज्योति अंजन चाहता न कदापि है,
किन्तु सेवन से दृगों की दृष्टि बढ़ती आप है,

भाइयो! नेत्रों की ज्योति बढ़ाने के लिए लोग अंजन का सेवन करते हैं, किन्तु अंजन जड़ पदार्थ है। वह अपने सेवन से प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर सकता। उसे यह भान नहीं होता कि मैं सेवन करने वाले की आँखों की ज्योति बढ़ा दूँ। फिर भी क्या सेवन करने वालों को लाभ नहीं होता? क्या उनके नेत्रों की ज्योति बढ़ नहीं जाती? अवश्य बढ़ती है। इसी प्रकार वीतराग भगवान् यद्यपि पूर्ण निष्काम हैं, तथापि जो भव्य उनका सेवन करते हैं, उनकी भक्ति करते हैं, उनको शुभ फल प्राप्त होता ही है। जैसी भक्त की भावना होगी, उसके अनुसार वह फल प्राप्त कर लेगा।

भावना तीन प्रकार की है— अशुभ भावना, शुभ भावना और शुद्ध भावना। हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन, परिग्रह, गुणी जनों की निन्दा, आदि की भावना अशुभ कहलाती है और उससे पाप का बंध होता है। जीवरक्षा, परोपकार, दान आदि की भावना शुभ है और पुण्यबंध का कारण है। शुद्ध भावना से कर्मों का नाश होता है। शुभ भावना स्वर्ग तक पहुँचाती है, जब कि शुद्ध भावना मोक्ष में दाखिल कर देती है।

एक बालक किसी एम. ए. एल-एल. बी. परीक्षा में उत्तीर्ण और उच्च पदासीन व्यक्ति को लक्ष्य में रख कर और उस सरीखा बनने की भावना हृदय में धारण करके अध्ययन करता है वह उसकी पद्धति का भी अनुसरण करता है और समय पाकर उसके समान बन जाता है। यद्यपि उस व्यक्ति ने उस बालक को जानकर कोई मदद नहीं पहुँचाई और न लाभ पहुँचाया, किन्तु वह बालक लक्ष्य के द्वारा उच्च पद पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार यदि हम परमात्मपदप्राप्ति को अपना लक्ष्य बना लें और जिस मार्ग पर चल कर उन्होंने परमात्मा का पद प्राप्त किया, उसी पर चलें और सच्चे एवं पवित्र अन्तःकरण से परमात्मा की स्तुति करें, भक्ति करें और तन्मयता की भावना का विकास करें तो हम अवश्य ही सब सुख प्राप्त करते हुए परमात्मपद तक पहुँच सकते हैं।

नींबू या इमली किसी बगीचे में है अथवा किसी कुंजड़े की टोकरी में पड़े हैं। मगर उनसे दूर रहा हुआ कोई व्यक्ति नीबू-इमली को याद करता है तो उसके मुख में पानी भर आता है और मुँह का जायका बदल जाता है। कहिए कहाँ तो नीबू है और कहाँ आपके मुख में इसका असर पहुँच रहा है।

जो नींबू का नाम लिये, मुँह में पानी भर आता है।
जो ईशगुनगान करते, पाप जीव का जाता है।

नींबू और इमली का न्याय तो प्रत्यक्ष ही है। भगवान् न प्रसन्न होकर किसी को लाभ पहुँचाते हैं और न नाराज होकर किसी की हानि करते हैं। मगर अपनी-अपनी भावना के अनुसार सब को फल की प्राप्ति हो जाती है। सारा खेल भावना का है।

यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।

जिसकी भावना जैसी होती है, उसे उसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

भाइयो! ईश्वर को खुश करने के विचार से नहीं, परन्तु अपनी भावना को पवित्र करने के विचारों से भगवान् का स्तवन और कीर्त्तन करो, गुणगान करो, स्मरण करो। जो ईश्वर को खुश करने के विचार से भगवान् की भक्ति करते हैं, उनके चित्त में दीनता उत्पन्न होती है; किन्तु जो अपनी भावना को पवित्र करने के लिए भगवद्भजन करते हैं, उनको बल, साहस और प्रेरणा प्राप्त होती है। अतएव सदैव पवित्र भावना के साथ परमात्मा को लक्ष्य में रक्खो। यह सत्य है कि परमात्मा मोक्ष में हैं और हम यहाँ हैं, किन्तु यदि हम शुद्ध भावना से कार्य करेंगे तथा स्तुति करेंगे तो निश्चय ही हमारे कर्मों का क्षय होगा। भगवान् के नाम एवं स्वरूप में ऐसी शक्ति है कि उनका स्मरण करने से सारे कलिमल नष्ट हो जाते हैं।

जब तुम वाइसराय से या किसी उच्च श्रेणी के अधिकारी से मुलाकात करने जाते हो, तब बढ़िया पोशाक पहनते हो और साफ सुथरे होकर जाते हो। तो क्या परमात्मा के पास पाक हुए बिना ही चले जाओगे? कदापि नहीं। गंदे, मैले-कुचैले कपड़े पहन कर जाओगे तो वाइसराय का चपरासी तुम्हें बाहर से ही छुट्टी दे देगा भीतर नहीं घुसने देगा। इसी प्रकार मलीन भाव लेकर चलोगे

तो परमात्मा के निकट नहीं पहुँच सकोगे। पहले तो जा ही नहीं सकते, कदाचित् कुछ ऊँचाई पर पहुँच गये तो किसी विमान से नीचे धकेल दिये जाओगे। अतएव अगर परमात्मा के पास पहुँचना है और संसार की नाना प्रकार की पीड़ाओं से छुटकारा पाना है तो गंदगी, मलीनता का त्याग करना पड़ेगा। स्वच्छ बनना होगा।

मगर याद रक्खो कि परमात्मा के पास पहुँचने के लिये तन और वसन की सफाई से काम नहीं चलेगा। वहाँ नकलीपन या दिखावट काम नहीं आती। परमात्मा के निकट पहुँचने के लिये चाहिए अन्तःकरण की स्वच्छता, भावना की पवित्रता, आन्तरिक शुद्धता। इस प्रकार की पवित्रता को प्राप्त करने के लिये मनुष्य भव ही सर्वोत्तम साधन है। इस भव को पाकर अशुभ कृत्यों से बचो, शुभ कर्म करो, क्रोधादि कषायों का निग्रह करो, हृदय में करुणा भाव की जागृति करो, निष्काम भाव स सेवा और परोपकार करो, दुखिया के दुःख को अपना ही दुःख समझ कर उसके प्रतीकार के लिए चेष्टा करो। दूसरे के कष्ट की उपेक्षा मत करो। किसी की निन्दा करके उसकी गंदगी को अपनी आत्मा में मत समेटो। गुणी जनों का आदर करो। नम्रता धारण करो। अहकार को अपने पास मत फटकने दो। कोई अच्छा काम करे तो प्रसन्नता अनुभव करो, उसे धन्यवाद देकर अपनी गुणग्राहकता प्रकट करो। ईर्षा से प्रेरित होकर उसकी बुराई मत करो। दूसरों के सुकृत की प्रशंसा करने से सुकृत को बढ़ावा मिलता है और अपनी आत्मा में भी सुकृत करने की प्रेरणा जागती है। अगर किसी को यश-कीर्ति मिलती है तो डाह करने से क्या लाभ? जिसने भलाई का कोई काम किया है, लोग उसकी प्रशंसा करेंगे। तुम भी उसमें सम्मिलित हो जाओ। प्रशंसा चाहिए तो तुम भी भला काम करो। मगर यह क्या इन्सानियत है कि स्वयं तो भला काम न करो और दूसरे करें और कीर्ति पावें तो ईर्षा करो। ईर्षा न करके अच्छे २ काम करो।

ऐसा करने से तुम्हारा जीवन ऊँचा उठ जाएगा। तुम्हारा चित्त पवित्र बनेगा। प्रशंसा के पात्र तो बनोगे ही, साथ ही अपना कल्याण भी कर सकोगे। अगर आपने इस प्रकार पवित्रता प्राप्त कर ली तो फिर ईश्वर से भेंट होने में कोई बाधा पहुँचाने वाला नहीं है।

जिसने पापों और दुर्गुणों का सेवन करके अपने जीवन को अपवित्र बना लिया है, वह ईश्वर से भेंट नहीं कर सकता।

जोधपुर में तत्कालीन प्राइम मिनिस्टर की ओर से ऐलान हुआ कि दूसरे रोज सब लोग प्रभु से प्रार्थना करने के लिए एकत्र हों। राय सा० भंडारी विलभचंदजी मेरे पास आए और कहने लगे-आप भी कल व्याख्यान के अवसर पर विशेष रूप से ईश्वर प्रार्थना करें।

मैंने उनसे कहा—आप इसी समय जाकर प्राइम मिनिस्टर साहब से कह दीजिए कि ईश्वर आपकी प्रार्थना स्वीकार नहीं करेगा।

भंडारीजी—क्यों नहीं करेगा ?

मैंने कहा-जब तक कसाईखाने बंद नहीं होंगे और हिंसा चालू रहेगी, तब तक खून से भरे हुए हाथों की प्रार्थना नहीं सुनी जा सकती। अगर प्रार्थना मंजूर करवाना है तो पहले तन-मन से पवित्र होना चाहिए।

भंडारीजी ने उसी समय प्राइम मिनिस्टर को टेलीफोन किया और सारी कैफियत सुनाई। प्राइम मिनिस्टर ने उसी समय हुक्म जारी किया कि कल सब कसाईखाने बंद किये जवें और किसी प्रकार की जीव हिंसा न की जाय।

चेतावनी पर ध्यान दो और पुण्य संचय करके, उसके सहारे आगे-आगे बढ़ते हुए सर्वोच्च पद प्राप्त करो।

पर्युषण पर्व के अवसर पर तो विशेष रूप से धर्म ध्यान करना चाहिए। यदि प्रमाद के कारण प्रतिदिन धर्मध्यान नहीं कर पाते तो कम से कम इन आठ दिनों में तो करना ही चाहिए। यह धर्म ध्यान भी ऐसा होना चाहिए कि इसके संस्कार जीवनव्यापी हो जाएँ और आपका जीवनक्रम धर्ममय बन जाय। ऐसा करोगे तो आपका ही हित होगा हम तो आपको मार्ग दिखला सकते हैं सो दिखला रहे हैं और उस पर चलने की प्रेरणा कर रहे हैं। चलना या न चलना आपकी इच्छा पर निर्भर है। चलोगे तो सुखी बनोगे। न चलोगे तब भी मुझे तो अपने कर्त्तव्य के पालन का संतोष रहेगा ही।

यह निश्चित है कि जो पुण्य कमा कर आते हैं वही उत्तम सुख सामग्री का उपभोग करते हैं। वसुदेवजी ने पूर्व जन्म में पुण्य का उपार्जन किया तो वे स्त्रीवल्लभ हुए। उन्हें सब प्रकार के सांसारिक सुखों की प्राप्ति हुई। महारानी रोहिणी बड़ी पुण्यवती थी, तभी उसे बलदाऊजी जैसे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई।

श्रीकृष्णजी, बलदाऊजी तथा इनके भाई कौन थे ?

हस्तिनापुर नगर में एक सेठ रहते थे। उनकी पत्नी का नाम रामा था। उनका एक पुत्र था, जिसका नाम ललितांग रक्खा गया था।

कुछ काल के पश्चात सेठानी पुनः गर्भवती हुई। गर्भ ज्यों ज्यों बढ़ने लगा, सेठानी बीमार रहने लगी। कभी कुछ तो कभी कुछ। एक दिन भी वह स्वस्थ नहीं रह पाती थी। सेठानी ने विचार किया।

गर्भवती होने से पहले मैं तन्दुरुस्त रहती थी और जब से गर्भवती हुई हूँ तभी से बराबर बीमार रहती हूँ। इससे निश्चित होता है कि कोई दुष्ट जीव मेरे गर्भ में आया है। संभव है, वह आगे चल कर कोई बड़ा अनर्थ उत्पन्न करे। अतएव यही उचित है कि इस पाप-गर्भ को नष्ट कर दिया जाय।

इस प्रकार विचार कर रामा सेठानी ने गर्भपात की अनेक औषधियों का सेवन किया पर गर्भ पर उनका कुछ भी असर न हुआ।

गर्भ का जीव प्रगाढ़ आयुकर्म बांध कर आया था, अतएव उसे मार डालने का सेठानी का संकल्प पूरा नहीं हो सका। समय पूर्ण होने पर बालक का जन्म हुआ, परन्तु पूर्व वैर के कारण सेठानी को उस पर अत्यन्त द्वेष भावना जागृत हुई। वह उसका मुख तक नहीं देखना चाहती थी। अतएव उसने अपनी एक अत्यन्त विश्वस्त दासी को बुलाकर एकान्त में कहा—इस बालक को लेजाकर किसी पहाड़ी पर रख आ, ताकि कोई सियार वगैरह जंगली जानवर खा जाय और मेरे सिर का शूल समाप्त हो जाय।

दासी पहले तो तत्काल जन्मे हुए अबोध और निरपराध शिशु की हत्या में सहयोग देने से घबराई, मगर जब उसे सेठानी की आज्ञा का ध्यान आया और अपने भविष्य का खयाल हुआ तो वह तत्काल तैयार हो गई। वह इस बालक को एक कपड़े में लपेट कर ले जा रही थी कि सामने रास्ते में सेठजी मिल गए।

दासी को बालक ले जाते देख उन्होंने कठोर स्वर में पूछा—यह क्या है? और इसे कहाँ ले जा रही है?

दासी बुरी तरह सिटपिटा गई। थर-थर काँपती हुई बोली—

सेठ साहब ! सेठानीजी का हुक्म बजा रही हूँ। उनका यह आदेश है कि इस बालक को कहीं पहाड़ पर छोड़ आऊँ।

सेठ अत्यन्त गहरे विचार में डूब गया। उसे कई प्रकार के विचार आने लगे। संसार के संबंधों की नींव कितनी कच्ची है, वह किस प्रकार अस्थिर है, यह बात एकदम ही उनके विचार में घूम गई। मगर उन्हें तात्कालिक निर्णय करना था। एक तरफ पत्नी और दूसरी तरफ पुत्र था। पुत्र की रक्षा करने पर पत्नी को आघात लगता है और पत्नी को आघात से बचाये तो पुत्र को घात होती है। आखिर सेठ ने ऐसा निर्णय किया कि न साँप मरे और न लाठी टूटे।

सेठ ने उस बालक को दासी के हाथ से ले लिया और कह दिया—जाकर मालकिन से कह देना कि बालक को छोड़ आई हूँ। तत्पश्चात् उसने बालक को अन्यत्र कहीं रख दिया और वहीं उसका पालन-पोषण होने लगा।

कई वर्ष बीत चुके थे। किसी त्यौहार का दिन था। सेठानी ने नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन बनाए और सब कुटुम्बीजन जीमने बैठे।

सेठ ने ललितांग के छोटे भाई को भी बुला लिया और पर्दे के पीछे बिठला दिया। उसका नाम गंगदत्त रक्खा गया था। अकस्मात् हवा का एक झौंका आया और पर्दा ऊपर की ओर उठ गया। पर्दा ऊँचा होने पर सेठानी की दृष्टि गंगदत्त पर पड़ी। सेठानी ने पूछा—यह बालक कौन है ? और वहाँ क्यों बैठा है ?

लोगों ने उसे बतलाया—यह आपका ही पुत्र है। अब तक आपने उसे पहचाना नहीं, अब पहचान लीजिए।

यह सुनते ही सेठानी का माथा ठनक उठा। वह क्रोध से पागल हो गई। एकदम उठी और उस बालक को पकड़ कर मोरी में घुसेड़ दिया।

सेठ ने तत्काल दौड़ कर उसे मोरी से निकाला और फिर अन्य स्थान पर भेज दिया।

एक बार उस नगर में विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न मुनिराज पधारे। सेठ उनके दर्शन और उपदेश श्रवण करने के उद्देश्य से उनकी सेवा में पहुँचा। जब उपदेश समाप्त हो गया और दूसरे श्रोता अपने-अपने स्थान के लिए प्रस्थान कर गये, तब सेठ ने मुनिराज को निवेदन किया—भगवन्! मैं यह जानना चाहता हूँ कि गंगदत्त पर सेठानी की इस प्रकार अप्रीति का क्या कारण है?

इस प्रश्न के उत्तर में मुनिराज ने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया और पूर्व वृत्तान्त को जानकर कहा—

पूर्व जन्म में ललितांग और गंगदत्त भाई-भाई थे। एक दिन दोनों भाई जंगल से लकड़ियों की भरी गाड़ी ला रहे थे। रास्ते में एक नागिन को देखकर बड़े भाई ने छोटे भाई से कहा—देखना भैया सावधानी से गाड़ी चलाना। रास्ते में नागिन है, ऐसा न हो कि उसके ऊपर से पहिया निकल जाय और वह कुचल जाय। मगर बड़े भाई की चेतावनी का विचार न करते हुए छोटे भाई ने अन्धाधुन्ध गाड़ी चलाई और नागिन कुचल कर मर गई।

वही दोनों भाई इस जन्म में ललितांग और गंगदत्त के नाम से भाई-भाई के रूप में जन्मे हैं और नागिन मर कर इनकी माता के रूप में उत्पन्न हुई है। गंगदत्त पर अप्रीति होने का कारण यही

है कि उसने बड़े भाई द्वारा चेतावनी पाने पर भी नागिन की हिंसा की थी।

इस प्रकार मूल प्रश्न का उत्तर देने के पश्चात् मुनिराज ने उससे मिलने वाली शिक्षा के प्रति ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—भव्यात्माओ ! आपको जो वृत्तान्त सुनाया गया है, वह भूतकाल से संबंध रखता है, मगर भूतकाल के दर्पण में देखकर हमें भविष्य को मंगलमय बनाने के लिए वर्त्तमान में सावधान होना चाहिए। इस वृत्तान्त से समझना चाहिए कि थोड़े से समय का प्रमाद और उपेक्षा भी भविष्य में कितना अधिक अनिष्ट फल देने वाला होता है। एक जन्म के कृत्य आगामी जन्मों पर कैसा असर डालते हैं ? यह बात ध्यान में लेना चाहिए।

मुनिराज की वाणी सुनकर सेठानी ने तथा उसके उन दोनों पुत्रों ने दीक्षा अंगीकार कर ली। उनकी भावना संसार से विरक्त हो गई। दीक्षा लेने के पश्चात् तीनों ने घोर तपस्या की। गंगदत्त ने अन्तिम समय में जगद्वल्लभ होने का नियाणा किया। बड़े भाई ललितांग ने तपस्या में कमी नहीं रक्खी और साथ ही नियाणा भी नहीं किया। उसने शुद्ध भाव से शरीर का त्याग किया। वही जीव रोहिणी देवी के गर्भ में आया और बलदाऊ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ब्यावर
२१-८-४१

धर्म-शरण

卐

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात् ।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफलद्युति मुपैति ननूदविन्दुः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अनन्त शक्तिमान् पुरुषोत्तम भगवन् ! कहां तक आपकी स्तुति की जाय ? कहाँ तक आपके गुणों का गान किया जाय ?

आचार्य महाराज कहते हैं—हे पुरुषोत्तम ! हे सर्वोत्तम ! जो प्राणी आपकी स्तुति, भक्ति, गुण ग्राम एवं उपासना करते हैं, वे स्वयं इस जगत में पूजनीय हो जाते हैं। आपकी स्तुति जगत् के जीवों को उच्च श्रेणी पर पहुँचा देती है, आपकी भक्ति करने वाला कल्प वृक्ष की तरह पूजा जाता है। जिसने भी आपके चरणों में भक्तिपूर्वक वन्दना की, वह स्वयं वन्दनीय हो गया। जिसने आपको नमस्कार किया, वह नमस्करणीय बन गया।

प्रभो ! आपकी स्तुति में पापों का विनाश करने की अनुपम शक्ति है। एक बार भी जो हृदय से आपका गुणगान करता है, उसके जन्म-जन्मान्तर के पापों का क्षय हो जाता है। ऐसी मेरी अविचल श्रद्धा है। इसी श्रद्धा से प्रेरित होकर हे नाथ ! मैं आपकी स्तुति करता हूँ। यदि यह स्तवन सज्जन पुरुषों के चित्त को रुचिकर होगा तो इसका कारण मेरी रचना नहीं, आपका लोकोत्तर प्रभाव ही होगा।

तालाब में कमल खिले होते हैं। उन पर ओस के बिन्दु आकर जम जाते हैं। प्रातः काल होने पर जब सूर्य का उदय होता है और सूर्य की सुनहरी रश्मियाँ जब समस्त भूमण्डल में प्रकाशमयी किरणें फैलाती हैं, तब उनमें से कुछ किरणें ओस की उन बून्दों पर भी पड़ती हैं। सूर्य की किरणों के सम्पर्क से ओस की बूदें मुक्ता-फल की शोभा प्राप्त कर लेती हैं, मोती के समान चमकती हुई नजर आती हैं। ओस के बिन्दुओं को इतनी महिमा प्रदान करने वाला कौन है? यह महिमा ओस बिन्दुओं की नहीं, सूर्य की है। इसी प्रकार यह स्तवन यदि मनोरम हुआ तो उसका कारण आप ही हैं। प्रभो ! आपका आश्रय पा लेने पर किसे महिमा नहीं प्राप्त हो जाती? जो भी आपके चरणों का आश्रय लेता है, वह उच्च श्रेणी पर पहुँच जाता है। सम्पूर्ण विश्व में उसका नाम रोशन हो जाता है। आपका गुणग्राम पतित आत्मा को भी उच्च पद पर आसीन कर देता है। जिनकी महिमा ऐसी अपरम्पार है। उन आदि देव श्री ऋषभनाथ को ही हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो ! मनुष्य के आचार-विचार पर और समस्त जीवन पर संगति का कितना कैसा प्रभाव पड़ता है? इस बात को समझाने की आवश्यकता नहीं है। अगर आप अपने अड़ौस-पड़ौस वालों

पर दृष्टि डालें और अलग अलग लोगों की विचारधारा को समझने का प्रयत्न करें और उनकी दिनचर्या पर दृष्टि दें तो पता चलेगा कि उनमें कितनी भिन्नता है। इस भिन्नता का कारण क्या है ? इस चीज की खोज करने पर स्पष्ट हो जायगा कि यह सब संगति का प्रभाव है। जो व्यक्ति जैसी संगति में रहता है, वह वैसा ही बन जाता है। जिनके साथ मनुष्य उठता-बैठता रहता है, उनके विचारों और क्रियाओं का उस पर प्रकट और अप्रकट रूप में असर पड़ता रहता है। उनका आचार विचार उसके जीवन का अंग बन जाता है। इसी कारण योग्य माता-पिता इस बात का बहुत ध्यान रखते हैं कि उनकी सन्तान खराब लोगों की संगति से बचे और अच्छे-लोगों की संगति में रहे।

यह न समझिए कि संगति का प्रभाव बालकों पर ही पड़ता है, बड़ों बूढ़ों पर भी पड़ता है। संगति सभी को प्रभावित करती है। हाँ, कुछ अपवाद ऐसे भी मिल सकते हैं जो किसी भी वातावरण में और कैसी भी संगति में रहें, प्रभावित नहीं होते हैं। ऐसे लोग दृढ़ संकल्प वाले होते हैं, और पहुँचे हुए होते हैं। मगर प्रत्येक का मनोबल ऐसा मजबूत नहीं हो सकता। अधिकांश व्यक्ति तो अपने अपने संसर्ग के अनुसार प्रभावित होते ही रहते हैं। अतएव जीवन के बनाव और बिगाड़ में संगति का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी कारण यहां कहा गया है कि जैसे कमल के पत्ते की संगति पाकर पानी की बून्द भी मोती के समान चमकने लगती है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष की संगति से अज्ञानी भी सुधर जाता है।

दूध में शक्कर और केसर डालने से दूध का स्वाद बढ़ जाता है, किन्तु नमक डालने से खराब हो जाता है, इसी प्रकार गुणवान् जनों की संगति से मनुष्य अधिक गुणवान् बनता है और निर्गुणों के संसर्ग से गुणी भी निर्गुण हो जाता है।

किसी ने आर्य क्षेत्र पा लिया, मनुष्यजन्म भी प्राप्त कर लिया स्वस्थ शरीर और परिपूर्ण इन्द्रियाँ भी मिल गईं, किन्तु अगर सुसंगति नहीं मिली तो यह सब पाना वृथा हो गया कुछ भी काम न आया राजा श्रेणिक मिथ्यात्व के मार्ग पर चल कर अपने मानव जीवन को अधिक दुःखों का पात्र बना रहा था, किन्तु अनाथी मुनि का संसर्ग पाकर उसका मार्ग बदल गया। उसे सम्यक् मार्ग मिल गया और उसका भविष्य मंगलमय बन गया। सत्संगति के प्रभाव से कितना परिवर्त्तन हो गया उसके जीवन में ?

और राजा प्रदेशी को कैसे भुलाया जा सकता है ? प्रारंभ में वह घोर नास्तिक था। न आत्मा का अस्तित्व मानता था, न परलोक पुण्य-पाप की वह खिल्ली उड़ाता था। धर्म को दंभ कहता था और सन्तों को धूर्त एवं जड़ समझता था। यह उसकी श्रद्धा का हाल था उसके आचरण की तो मत पूछो। उसके हाथ खून से लथपथ रहते थे पशुओं और पक्षियों की निर्दयता पूर्वक हत्या करता था और मनुष्यों पर भी उसे दया- ममता नहीं थी। अत्यन्त रौद्र कर्म करना उसका व्यसन था। उसकी सारी जिंदगी घोर पापों से रंगी थी। ऐसा घोर नास्तिक पापी भी अन्त में धार्मिक बन गया। संतों का पुजारी दयालु, दानशील और सहृदय बन गया। किस कारण उसके जीवन में यह परिवर्त्तन आया ? सत्संगति से। केशी स्वामी के सम्पर्क में आते ही उसके विचार और आचार में आमूल परिवर्त्तन हो गया एक ही बार की साधुसंगति उसके लिये कल्याणकारिणी सिद्ध हो गई।

यह है संगति का प्रबल प्रभाव। अगर आप ध्यान के साथ पढ़ेंगे तो सैकड़ों उदाहरण ऐसे मिलेंगे, जिनसे संगति के प्रभाव की महत्ता समझ में आ सकती है। अतएव अगर आप अधिक धर्म ध्यान न

कर सको तो कम से कम सत्पुरुषों की संगति तो किया ही करो। साथ ही अपने बाल-बच्चों पर बराबर ध्यान रक्खो कि वे ऐसी संगति में तो नहीं रहते जिससे उनमें दुर्गुणों का प्रवेश हो जाय। बालकों के संस्कार पके हुए नहीं होते कच्चे होते हैं। इस कारण उन पर सोहबत का असर जल्दी पड़ता है। अतएव उन्हें सँभालने की विशेष आवश्यकता है।

तो मनुष्य जन्म प्राप्त कर परमात्मा का भजन करना, पाँच महाव्रत धारी साधुओं की संगति करना और वीतराग भगवान् की वाणी श्रवण करना ही दूध में शक्कर और केसर डालना है।

आपका बड़ा सौभाग्य है कि आपको सभी उत्तम साधन मिल गये हैं। अनायास ही ऐसे परिवार में जन्म मिला है जहाँ धर्म की साधना होती है और सद्गुरुओं की उपासना की जाती है। ऐसे अवसर का पूरा लाभ उठा लेना चाहिए।

श्रीठाणांग सूत्र में भगवान् ने फर्माया है कि—जगत् में चार प्रकार के सारथी हैं:—

१—कोई-कोई रथ में बैल जोत देते हैं, किन्तु खोलते नहीं।

२—कोई खोल देते हैं, पर जोतते नहीं।

३—कोई खोलते भी हैं और जोतते भी हैं।

४—कोई जोतते भी नहीं और खोलते भी नहीं।

इसी तरह चार प्रकार के पुरुष हैं—एक प्रकार के पुरुष ऐसे होते हैं जो जोतने में ही रहते हैं, किन्तु खोलते नहीं। इस वर्ग में साधु-महात्माओं का समावेश होता है। वे सामायिक, पौषध, उपवास

आदि करा देते हैं, मगर 'पलाते' नहीं। ऐसे पंच महाव्रतधारी साधु ही गुरु कहलाते हैं। जगत् में गुरु का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। गुरु मनुष्य का पथप्रदर्शक होता है। वही कुपथ का भान कराता है।

साधना का क्षेत्र बड़ा ही अटपटा है। जो वास्तव में साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण होता है, वही उसकी कठिनाई को भलीभाँति समझ सकता है। दीक्षा लेना और किसी प्रकार का वेष पहन लेना तथा ऊपरी क्रियाएँ कर लेना एक बात है, परन्तु आन्तरिक साधन दूसरी वस्तु है। साधक जब अपने मन को वशीभूत करने का प्रयत्न करता है और मन इधर-उधर उन्मत्त वानर की तरह चपलता के साथ भाग-दौड़ करता है, तब किस विधि से उसे वश में करना चाहिए, यह बात गुरु ही बतला सकता है। अन्तर की वृत्तियों को किस प्रकार नियंत्रण में लाना चाहिए, यह बात भी गुरू ही सिखा सकता है। इस प्रकार गुरु का पद बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसका उत्तरदायित्व महान् है। इस उत्तरदायित्व को वही सही तरीके से निभा सकता है जिसने स्वयं गुरु की सेवा में रह कर अनुभवज्ञान प्राप्त किया हो।

सेवा चाकरी करा लेने के लिए किसी को मूड़ लेना और गुरु कहलाने का गौरव प्राप्त कर लेना अलग बात है, मगर वास्तविक गुरु बनना दूसरी ही बात है। जिसके अन्दर के पट खुल गये हैं। जिसे आभ्यन्तर ज्योति प्राप्त हो गई है, जिसने साधना के क्षेत्र को काफी दूर पार कर लिया है और जो अपने अनुभव के आधार पर दूसरे के जीवन को प्रकाशमय बना सकता है, वही गुरु पद का सच्चा अधिकारी है।

संस्कृत भाषा में 'गुरु' शब्द का अर्थ करते हुए कहा गया है— ' का अर्थ अन्धकार है और 'रु' शब्द का अर्थ नाश करना है।

दोनों का सम्मिलित अर्थ यह निकला कि जो अपने शिष्यों के अज्ञान का नाश करता है, वही गुरु कहलाता है।

जीवन में ऐसे पहुँचे हुए गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है। गुरु के पथ प्रदर्शक के बिना साधक साधना की पगडण्डी पर आगे नहीं बढ़ सकता। वह राह भटक जाता है और चक्कर में पड़ जाता है। अतएव प्रत्येक आत्म-कल्याण के इच्छुक पुरुष को चाहिए कि वह गुरु अवश्य बनावे। परन्तु गुरु बनाते समय परीक्षा कर लेना आवश्यक है। अपने जीवन के जहाज को जिस कर्णधार के भरोसे छोड़ रहे हो, उसकी पहले जांच तो करलो कि उसे स्वयं रास्ता मालूम भी है या नहीं। विज्ञ सारथी को ही अपना जीवन रथ सुपुर्द करो। ऐरे-गैरे को गुरु बना लोगे तो अन्धकार में ही भटकना पड़ेगा।

तो जिसने वीतराग सर्वज्ञ के मार्ग पर चल कर अपने जीवन को पूर्ण संयममय बनाया हो, जो समता योग की साधना करके कषायों पर अधिकांश में विजय प्राप्त कर चुका हो और जो आत्म-ध्यान में लीन होकर जगत् के पचड़ों से विलग रहता हो, वही गुरु होने योग्य है। ऐसे महात्मा को ही गुरु बनाने से लाभ हो सकता है।

भाइयो! आपको याद दिलाने की आवश्यकता नहीं कि आप जब दो-चार पैसे की भी कोई चीज खरीदते हो तो उसे अच्छी तरह देख-भाल लेते हो। मिट्टी की हण्डी खरीदने वाली बहिनें उसे ठोक-बजाकर ही खरीदती हैं। तो फिर अपना भविष्य जिसके हाथ में सौंपना चाहते हो, उसकी परीक्षा करना आवश्यक है या नहीं? मगर परीक्षा करते समय ऊपरी रंग-ढंग ही मत देखो। यह

कि जिसे गुरु बनाना है उसने अपने जीवन को कितना ऊंचा उठाया है ? उसने काम-क्रोध आदि शत्रुओं पर कितनी विजय प्राप्त की है ? उसकी वाणी में और व्यवहार में कितनी संयतता है ?

ऐसे गुरु महाराज जोतते तो हैं पर खोलते नहीं हैं। कोई-कोई पुरुष ऐसे भी हैं जो जोतते भी हैं और खोलते भी हैं। इस श्रेणी में उपदेश दाता श्रावकों का समावेश होता है। जो मिथ्यात्वियों को कुमार्ग से हटा कर सन्मार्ग पर लाते हैं। जैसे सुबुद्धि प्रधान ने अपने राजा को मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी बना दिया था। ऐसे भाग्यवान् कोई-कोई पुरुष ही होते हैं जो मिथ्यादृष्टि को सन्मार्ग दिखला कर सम्यग्दृष्टि बना देते हैं।

एक तपस्वी जीवन पर्यन्त पचोले-पचोले की पारणा करता है और दूसरा तपस्या तो नहीं करता किन्तु एक मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दृष्टि बना देता है तो वह उस तपस्वी से भी बढ़कर है। बकरे छुड़ाने की अपेक्षा कसाई को हिंसा का त्याग कराना बेहतर है। कसाई हिंसा करना छोड़ देगा तो न मालूम कितने बकरे बच जाएँगे और उसका भी हिंसाजनित अकल्याण बच जायगा।

जो पुरुष जोतते नहीं पर खोलते हैं और जो दोनों ही नहीं करते, ऐसे पुरुषों की श्रेणी सामान्य जनों की है, जिसमें मिथ्यात्वी और कुमार्गगामी भी सम्मिलित हैं। यह लोग न धर्म करते हैं, न करने की प्रेरणा किसी को करते हैं, यहाँ तक कि अगर कोई धर्म करता है तो उसे करने नहीं देते। ऐसे जीव चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण करते रहते हैं।

भाइयो ! संसार में परोपकार के अनेक उपाय हैं जो भूख से व्याकुल है उसे रोटी देना, जो सर्दी से काँप रहा है, उसे वस्त्र की सहायता दे देना, रोगी को औषध का दान करना, साधन हीन विद्यार्थी की पुस्तक आदि से सहायता करना, निराश्रय को आश्रय

देना, भयभीत को निर्भय बनाना आदि परोपकार के कार्य हैं। यह सब कार्य पुण्य बन्ध के कारण हैं। अतएव इनका निषेध नहीं किया जा सकता। तथापि यह तो कहना ही पड़ेगा कि एक पापी जीव को पाप से हटा कर धर्म के मार्ग पर लगाना सर्वोत्तम कर्त्तव्य है, धर्म है।

भानु सेठ और जमुना सेठानी ने संयम धारण कर लिया। अन्तिम समय में संथारा ग्रहण करके देवलोक में चले गए। सेठ सेठानी के सात पुत्र थे और उनके बाद वे सातों कुसंगति में फँस गए। सेठ बारह करोड़ सो नैया छोड़ गया था। कपूत बेटों ने वह सारा धन जूए में गंवा दिया

यथार्थ ही है कि जो धर्म से जितना विमुख होता है, उसे उतना ही अधिक कष्ट भोगना पड़ता है।

जब सातों भाई सर्वथा निराधार हो गए और कोई ठौर ठिकाना न रहा तो वे मथुरा नगरी छोड़ कर रात्रि के समय, चुपचाप उज्ज-यिनी के लिए रवाना हो गए। मार्ग में अनेक कठिनाइयां झेलते हुए वे उज्जयिनी पहुँचे। मगर उनकी आदत खराब हो चुकी थी, अतएव उन्हें ठीक ढंग का कोई काम न मिला। तब एक दिन सातों ने मिल कर चोरी करने का इरादा किया और चोरी करने के उद्देश्य से किसी दूसरे शहर के लिए रवाना हुए। शहर के बाहर पहुँच कर उन्होंने सबसे छोटे भाई को श्मशान के पास एक वृक्ष के नीचे बिठला दिया और बाकी चोरी करने चले गए। उसी शहर में एक जागीरदार रहता था। उसके परिवार में उसकी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधू थी। पुत्रवधू बहुत बदचलन थी। उसका नाम मांगी था। ऐसी स्त्रियों की सास के साथ पट नहीं सकती। तदनुसार यहां भी सास-बहू में हमेशा लड़ाई होती रहती थी।

एक बार वसन्त संबंधी कोई त्यौहार आया। घर के पुरुष उत्सव में सम्मिलित होने के लिए बगीचे में चले गए। अवसर देख कर सास ने अपनी दासी से घड़े में एक विषैला साँप मँगवाया और द्वेष से प्रेरित होकर बहू के प्राण लेने के लिए कहा—आज तेरे लिए बढ़िया फूलमाला मँगवाई है। उस मटके में रक्खी है। जा, निकाल कर पहन ले।

बहू को इस षड्यंत्र की कल्पना नहीं थी। वह गई। ज्योंही उसने मटके में हाथ डाला कि साँप ने डस लिया। वह उसी समय मूर्छित होकर गिर पड़ी। सास ने उसे श्मशान में फिकवा दिया।

लड़का घर पर आया और उसने अपनी पत्नी को न देख कर माता से पूछा—वह कहाँ गई है? माता ने कहाँ—उसे साँप ने काट खाया था, अतः श्मशान में फिकवा दिया है। लड़का उसी समय श्मशान की ओर चला। रास्ते में एक मकान में एक लब्धिधारी मुनि बैठे थे। उन्हें देख कर उसने विचार किया—शकुन तो अच्छे हुए हैं! उसने निकट जाकर मुनिराज के दर्शन किये और कहा—यदि मेरी स्त्री मिल गई तो मैं आपकी खूब सेवा करूँगा।

इतना कह कर वह सीधा श्मशान भूमि में गया। वहाँ उसे स्त्री मिल गई। किसी प्रकार उसे उठा कर वह मुनिराज के पास लाया। मुनिराज के शरीर की हवा लगते ही वह स्त्री होश में आ गई। यह स्थिति देख कर लड़के को बहुत प्रसन्नता हुई। वह उसे मुनि-राज के पास ही छोड़ कर गांव में गया। रात्रि हो जाने के कारण मुनिराज ने उससे कहा—माँगी बाई, तेरा यहाँ ठहरना ठीक नहीं है। तेरे शरीर में अब चलने की शक्ति आ गई है। कहीं दूसरी जगह अवसर देख ले।

माँगी ने सोचा—इस समय मेरा घर जाना उचित नहीं है। अन्यत्र कहीं जाऊँ तो कहाँ जाऊँ? मुझे फिर श्मशान में ही चलना चाहिए। इस प्रकार सोचकर वह श्मशान में पहुँची। अचानक उसे सात भाइयों में से वह छोटा भाई दिखलाई पड़ा, जो एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। उसके रूप सौन्दर्य को देखकर मांगी मोहित हुई। यद्यपि वह अभी-अभी मौत के मुँह से निकली थी और उसके पति ने उसके लिए इतना परिश्रम किया था, तथापि वह इन सब बातों को भूल कर परपुरुष को चाहने लगी। सच है, जिसकी वृत्ति जैसी बन जाती है, वह बड़ी कठिनाई से दूर होती है। घोर पतन हो जाने पर मनुष्य का विवेक लुप्त हो जाता है और उसे अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का तनिक भी भान नहीं रहता।

हाँ, तो माँगी ने निर्लज्जता के साथ कहा—मेरा पति मुझसे दिन-रात लड़ता रहता है। मैं तंग आ चुकी हूँ। अब मुझसे अधिक सहा नहीं जाता। अतएव अगर तुम मुझे अपना लो, अपनी पत्नी बना लो, तो मेरा जीवन सार्थक हो जाय।

उस लड़के ने उत्तर दिया—मैं तुझे पत्नी बना सकता हूँ; किन्तु तेरा पति मुझसे लड़ेगा! उस अवस्था में क्या होगा? मैं पर-देश में हूँ। यहाँ कोई मेरा सहायक नहीं। किसके भरोसे साहस करूँ?

माँगी ने उत्तर दिया—इसकी चिन्ता मत करो। जिससे तुम्हें भय है, उसे मैं अभी समाप्त करके आती हूँ।

लड़के ने तिरियाचरित देखने के लिए कहा—ठीक है, अगर इतना कर सकती हो तो करो। फिर देखा जाएगा।

प्रातःकाल मांगी वहाँ से चलकर मुनिराज के पास पहुँची। उसी समय लड़का भी मुनि के पास पहुँचा। ज्योंही वह वंदना करने लगा त्योंही स्त्री ने तलवार निकाल कर वार करने के लिए हाथ उठाया। उसे हाथ उठाते देख कर और अनर्थ की संभावना समझ कर मुनिराज ने कहा—ऐसा मत करो।

लड़के के पूछने पर उसने कोई बहाना बना दिया।

उधर व छहों भाई चोरी करके छोटे भाई के पास पहुँचे। उन्होंने चुराये हुए माल के सात हिस्से किये और एक हिस्सा छोटे भाई को भी देने लगे। छोटे भाई ने कहा—मुझे अब इस धन की आवश्यकता नहीं रही। यह धन आप लोग ही अपने पास रखिए।

यह कह कर मांगी वाला समस्त वृत्तान्त उन्हें सुनाया और अन्त में कहा—यह संसार कितना विषम है ? यहाँ स्वार्थपरता और कृतघ्नता का किस प्रकार नंगा नाच हो रहा है ? यह बात आज मेरे ध्यान में आ गई है। वास्तव में संसार अत्यन्त असार है। कोई किसी का नहीं है अतएव मेरी इच्छा दीक्षा अंगीकार करने को हुई है। आप लोग मुझे संयम पालन करने की अनुमति दीजिए। मैंने पूर्वजन्म में कुकृत्य किये, जिनके कारण इस जन्म में यह हालत देखनी पड़ी। अब भी पापाचार में लगे रहेंगे तो नरक के दुःख भोगने पड़ेंगे। भाग्य से चित्त में विवेक जागृत हुआ है तो अपने भविष्य को सुधार लेना चाहिए।

शेष भाइयों ने उसकी बात सुनी और विरक्ति देखी तो उनमें भी सद्बुद्धि जागी। उनके मन में भी वैराग्य की लहर उठी। उन्होंने कहा – भाई, संसार यदि असार है तो अकेले तुम्हारे लिए नहीं, हमारे लिए भी है। अतएव हम लोग भी तुम्हारे ही साथ दीक्षा धारण करेंगे और संयम का मार्ग ग्रहण करेंगे।

इस प्रकार जब सातों भाई दीक्षा धारण करने को तैयार हो गए तो प्रश्न उठा कि इस धन का क्या करना चाहिए ?

किसी ने कहा—इसे यहीं कहीं डाल देना उचित होगा। दूसरे ने कहा—नहीं किसी गरीब को दे देना अधिक अच्छा होगा। तब तीसरा बोला—नहीं, इस धन पर हमारा नैतिक अधिकार नहीं है। यह हमारा नहीं है। अतएव दान करने का दम्भ करना ठीक नहीं। नीतिपूर्वक, परिश्रम करके जो धन कमाया गया हो, वही दान करने योग्य होता है।

तब उनमें से एक ने कहा—अच्छा तो यह होगा कि यह धन जिसका है, उसी को किसी प्रकार लौटा दिया जाय; क्योंकि जिसका धन हरण किया गया है, उसे बहुत संताप हो रहा होगा। धन हरण होने से प्राणों के हरण सरीखी पीड़ा होती है। उस पीड़ा को दूर करके हम लोग दीक्षा अंगीकार करेंगे तो हृदय में किसी प्रकार का शल्य नहीं रहेगा।

आखिर यही निश्चय किया गया। जिसका धन हरण किया गया था, उसे वह किसी उपाय से लौटा दिया गया। तत्पश्चात सातों भाई मुनिराज के पास गये और दीक्षा ग्रहण करने की भावना प्रकट की।

इस घटना से प्रभावित होकर सांगी और उसके पति को भी संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने भी मुनिराज की सेवा में रहने और संसार से विमुख होकर संयम पालन करने की इच्छा प्रदर्शित की।

आत्मकल्याण का मार्ग सब के लिये खुला हुआ है। धर्म की आराधना करने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है। चाहे कोई राजा

हो या रंक, युवा हो या वृद्ध, धनवान् हो या निर्धन, पापी हो या पुण्यात्मा, पतित हो या उच्च हो; अगर उसकी आत्मा संसार की असारता से उद्विग्न हो चुकी है, उसे पापाचार के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई है, उसमें आत्मशुद्धि के लिये आन्तरिक प्रेरणा जाग उठी है और वह सचमुच पवित्र जीवन व्यतीत करने का इच्छुक है, तो वह दीक्षा का पात्र है। सन्त का कर्त्तव्य है कि संसार के त्रिविध ताप से सन्तप्त ऐसे आत्मा के उद्धार के लिये उसे अपने शरण में ग्रहण करे और संयममार्ग पर आगे बढ़ाने का प्रयत्न करें। उसमें जाति और कुल आदि बाधक नहीं होने चाहिए। उसका पिछला अपवित्र जीवन भी बाधक नहीं होना चाहिए। अर्जुनमाली जैसे पापी जीव भी जब भगवान् की चरण-शरण में पहुँचे तो भगवान् ने विचार नहीं किया कि इसे साधु बना लेने पर लोग क्या कहेंगे ? उन्होंने यह भी न सोचा कि जहाँ इसने घोर हत्याएँ की हैं' वहीं दीक्षा न देकर इसे अन्यत्र कहीं ले जाकर दीक्षा दें ! भगवान् तो उसके भीतर विराजमान सिद्ध के समान शुद्ध आत्मा को देख रहे थे । जब देखा इसे अपने पाप के प्रत्ति आन्तरिक पश्चाताप पैदा हो गया है, तब उसे संयम का पात्र समझ कर साधु बना लिया। साधु बनने के पश्चात् उसने कितनी दृढ़ता के साथ साधना की, यह कहने की आवश्यकता नहीं। शास्त्र में ऐसे एक नहीं, सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं।

अगर धर्म पतितों का उद्धार न करे तो धर्म की महिमा ही क्या रहे ? धर्म की महत्ता तो इसी में है कि उसकी छाया में आया हुआ पापी से पापी भी पवित्र हो जाता है। इस जगत् में धर्म ही पतित को पावन बनाने वाला है।

कालदोष से आज लोगों में नाना प्रकार की संकीर्ण भावनाएँ उत्पन्न हो गई हैं। धर्म गौण और जातपाँत प्रधान बन गई है, परन्तु

जैन धर्म की मूल प्रकृति इस प्रकार की धारणाओं का विरोध करती है।

जात-पाँत पूछे नहीं कोई ।
हरि को भजै सो हरि को होई ॥

यह सन्तवाणी भारतीय संस्कृति का मुख्य स्वर है। इसमें जो भावना निहित है, वही जैन परम्परा में प्राचीन काल से मान्य रही है ।

तो वे सातों भाई दीक्षित हो गये। दीक्षा ग्रहण करने पर उनका मांगी का तथा उसके पति आदि का सारा जीवन बदल गया।

सातों भाई तीव्र तपस्या करके और अन्त में समाधिमरण करके स्वर्ग में उत्पन्न हुए। स्वर्गलोक की स्थिति समाप्त होने पर पुनः मनुष्य-भव में आए और फिर संयम ग्रहण करके देवलोक में जन्मे । देव-लोक से च्युत होकर हस्तिनापुर में उनका जन्म हुआ। जब यह बड़े हुए तो उनके माता-पिता ने दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा पालने के बाद जब अन्तिम समय आया और माता ने अनशनव्रत अंगीकार किया तो सातों भाई उनके दर्शनार्थ गये। इन्हें देखकर उस अवस्था में भी माता की ममता उमड़ पड़ी और नियाणा किया कि—मैं जहाँ भी जन्मूं, सातों बेटे मुझे प्राप्त हों ।

इस नियाणे के फलस्वरुप वह वसुदेवजी की पत्नी—देवकी हुई।

आगे का वृत्तान्त यथासमय ज्ञात होगा।

ब्यावर
२३-८-४१

गुरु-माहात्म्य

卐

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥

भगवान् श्री ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य मानतुंगजी
फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम प्रभो !
आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? कहां तक आपका गुणगान किया
जाय ?

हे जगद्गुरु ! हे पुरुषोत्तम ! हे सर्वोत्तम ! आपकी स्तुति का
माहात्म्य अपार है। जो भव्य प्राणी आन्तरिक भक्तिभाव से प्रेरित
होकर सद्भूत गुणों का गान करता है, उसके भव-भवान्तर में बँधे हुए
पाप कर्म क्षण भर में विनष्ट हो जाते हैं। भगवान्‌ः इसमें कोई आश्चर्य
की बात नहीं है। रातभर जिसका अखण्ड साम्राज्य रहता है, जो समस्त
लोक में व्याप्त हो जाता है और जो भ्रमर के समान घोर कृष्णवर्ण

होता है. वह रात्रि-अंधकार सूर्य की किरणें फैलते ही सहसा न जाने कहां विलीन हो जाता है !

रात्रि में असंख्य तारे जगमगाने पर भी और लाखों लट्टू जलने पर भी जो अंधकार नष्ट नहीं हुआ था, वही एक सूर्य के प्रकाश से नष्ट हो जाता है। अकेला सूर्य सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित कर देता है। इसी प्रकार प्रभु ऋषभदेव का गुणगान करने से न मालूम कितने जन्मों का प्राणियों का पाप नष्ट हो जाता है और उनकी आत्मा रूपी लोक में ज्ञान का अपूर्व भावालोक उदित हो जाता है। भगवान् ऋषभदेव के स्तवन की ऐसी अपूर्व महिमा है। अतएव हे भव्य जीवो ! अगर आप अपना तिमिर नष्ट करना चाहते हो और अपनी आत्मा की अनादि कालीन पाप-कालिमा को पूरी तरह धो डालना चाहते हो तो भगवान आदिनाथ के चरणों की शरण ग्रहण करो। भगवान् की शरण में आने पर आपको निर्भयता की प्राप्ति होगी—आपको भय उपजाने वाले कर्म शत्रु निर्बल पड़ जाएँगे और आपकी शक्ति का विकास होता चला जाएगा ।

भगवान् के चरणों की नौका का आश्रय पाकर न मालूम कितने ही जीव भव-सागर को पार कर चुके हैं। वास्तव में संसार-समुद्र को पार करने का भगवद् भक्ति के समान सरल साधन अन्य नहीं है। इस साधन द्वारा जीव उत्तरोत्तर विकास करता हुआ अपना कल्याण पूर्ण कर लेता है।

यद्यपि पहले कभी स्पष्टीकरण कर दिया गया था तथापि इस तथ्य को दोहरा देने में कोई हानि नहीं है कि यद्यपि यहां भगवान् ऋषभदेव की स्तुति का प्रकरण होने से उन्हीं की स्तुति की महिमा प्रकट की गई है, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य

तीर्थंकरों की स्तुति का माहात्म्य कुछ कम है। नहीं, ऐसा नहीं है। समस्त तीर्थंकर भगवन्तों में समान गुण हैं और उनकी स्तुति का माहात्म्य एवं फल भी समान है। तीर्थङ्करों के नाम अलग-अलग हैं, उनका व्यक्तित्व भी अलग-अलग है, उनके तत्कालीन देश और काल भी अलग-अलग हैं, मगर उनका स्वरूप अलग-अलग प्रकार का नहीं है। वह तो समान ही है। सभी तीर्थङ्कर चार घन-घातिया कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और अनन्त शक्ति से सम्पन्न होते हैं और संसार को परम कल्याणकारी धर्मामृत का पान कराते हैं। तत्पश्चात् शेष रहे हुए अघाति कर्मों का क्षय करते हैं और लोकाग्रभाग में शाश्वत सिद्ध दशा प्राप्त करके विराजमान होते हैं। समस्त कर्मों के क्षय से आत्मा में किसी भी प्रकार का विकार या मल नहीं रह जाता। उसमें पूर्ण विशुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। और सब आत्माएँ मूलतः समान स्वभाव की धारक हैं। अतएव उनके गुणों में न कोई विलक्षणता होती है और न तरतमता ही हो सकती है।

इस प्रकार चाहे भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की जाय, चाहे भगवान् महावीर स्वामी की अथवा किसी अन्य तीर्थंकर की; सभी का फल समान है। तीर्थंकर के नाम में भेद होने से फल में भेद नहीं होता। अलबत्ता स्तुतिकर्त्ता की भावना में भिन्नता होगी तो फल में भी भिन्नता हो जाएगी। आपके हृदय में अगर उत्कृष्ट भक्तिभावना है तो उत्कृष्ट फल की प्राप्ति होगी, अन्यथा भावना के अनुसार फल मिलेगा। अगर अन्तःकरण में उत्कृष्ट भक्तिरसायन आ जाय तो जीव तीर्थंकर गोत्र का भी बंध कर लेता है।

तो जिन भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति में इतना सामर्थ्य है, उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार है।

हे भव्यजीवो। मुमुक्षुओ! पुण्यकांक्षियो! आत्मा के हितचिन्तको! जो अपना जन्म-मरण का भीषण त्रास मिटाना चाहते हो,

वे शुद्ध हृदय से, निर्मल भावना के साथ भगवान् की स्तुति करें। वे अपनी जीभ का महत्त्व समझें। इतने बड़े शरीर में जीभ एक छोटा-सा अवयव है और थोड़े से मांस का लोथड़ा है, मगर यह अवयव कितना महत्त्वपूर्ण है और उसे प्राप्त करने के लिए कितनी कीमत चुकानी पड़ी है, इस बात का विचार करो। यह विचार करने पर ही जीभ का महत्त्व ज्ञात होगा।

स्थावर अर्थात् एकेन्द्रिय जीवों को जिह्वा प्राप्त नहीं होती। जब अनन्त-पुण्य की वृद्धि होती है तब स्थावर जीव त्रसपर्याय पाकर जिह्वा पाते हैं। अतएव यह जीभ प्रचुर पुण्यराशि व्यय करने पर मिलती है।

मगर जिह्वा प्राप्त हो जाने पर भी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय तथा बहुत से पंचेन्द्रिय संज्ञी जीव भी व्यक्त वाणी का प्रयोग नहीं कर सकते। मनुष्यों की तरह उनमें स्फुट वचन बोलने की शक्ति नहीं होती। इसके लिए भी महान् पुण्य के उदय की आवश्यकता है। इस प्रकार यद्यपि जीभ पाने के लिए आपको पैसे के रूप में खर्च करना नहीं पड़ा है, मगर पुण्य के रूप में भारी कीमत चुकानी पड़ी है।

चतुर व्यापारी कीमत देकर जो कोई वस्तु खरीदता है, उससे बहुत अधिक, कई गुणा, लाभ उठाता है। इस दृष्टि से अगर आप विचार करेंगे तो आपकी चतुराई इसी में है कि जितना पुण्य व्यय करके आपने जीभ खरीदी है, उससे कई गुणा पुण्य इसके द्वारा प्राप्त करें।

प्रश्न यह है कि जीभ के द्वारा पुण्य किस प्रकार उपार्जन किया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जीभ के द्वारा भगवान् के

गुणों का स्तवन-कीर्त्तन किया जाय, जिन वचनों का पाठ किया जाय, जो पढ़ नहीं सकते उन्हें जिन वाणी सुनाई जाय और कोमल एवं मधुर वचन बोल कर दूसरों को सान्त्वना दी जाय। अगर आपने जीभ का इस प्रकार सदुपयोग किया तो आपका जीभ पाना सार्थक होगा; यही नहीं आपने इसे प्राप्त करने में जितना पुण्य व्यय किया है, उससे कई गुना नवीन पुण्य उपार्जन कर सकेंगे।

जो मनुष्य दूसरों को गाली देने, झूठी गवाही देने, किसी की निन्दा करने या चुगली खाने में जीभ का उपयोग करते हैं, उनकी नासमझी दयनीय है। उन बेचारों को तनिक भी भान नहीं है कि वे कितनी मूल्यवान् वस्तु का कितना बुरा उपयोग कर रहे हैं।

भाईयों! यदि इस समय जीभ का सदुपयोग नहीं करोगे तो अगले जन्म में यह जीभ और इस प्रकार स्पष्ट वाणी बोलने की शक्ति प्राप्त नहीं होगी। जैसे कोई अफसर प्रजा की भलाई के लिए रक्खा जाता है। अगर वह भलीभाँति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो उसे नौकरी से पृथक् कर दिया जाता है। उसे फिर नौकरी नहीं मिलती। इसी प्रकार आपको यह नरजन्म रूपी अफसरी मिलती है। यदि इससे हिंसा आदि दुष्कर्म करोगे तो पुनः मनुष्य न बन कर कीड़ी, मकोड़ी बनोगे या फिर नरक में जाना पड़ेगा।

हम क्यों आपको बार बार चेतावनी दे रहे हैं? इसलिए कि आपके ऊपर हमें दया आती है। हम चाहते हैं कि आपको नरक न जाना पड़े। आपको तीर्थंकर प्ररूपित धर्म की प्राप्ति हुई, निस्पृह उपदेशकों का उपदेश सुनने को मिला, सन्तसमागम का लाभ मिला, फिर भी अगर आपकी भलाई न हुई, आपको कोई लाभ न मिला और दुनियादारी की झंझटों में फँसकर आरंभ और परिग्रह के ही

पीछे पड़े रहे, हाय-हाय ही करते रहे तो आपका समग्र जीवन निष्फल हो जायगा। भाइयो! जीवन के जो दिन बीत गये सो बीत गये, मगर जितना भी काल शेष बचा है, उसे सँभालने की कोशिश करो, उसे सुधारो और ऐसे काम में लगाओ कि जिससे आज की अपेक्षा कुछ ऊँची स्थिति प्राप्त हो। कम से कम नीची गति तो न मिले! अगर मानवभव पाकर कुछ मुनाफा कमा सको तो उत्तम है। ज्यों के त्यों रहे तो गनीमत है और यदि घाटे में पड़ गये तब तो गजब ही हो जाएगा।

घाटे का सौदा करना महाजनों का काम नहीं है। आपको अपनी महाजनी बुद्धि का उपयोग आत्मा के विषय में भी करना चाहिए।

एक सेठ का लड़का स्कूल नहीं जाता था सेठ ने उसे खूब समझाया, किन्तु वह नहीं माना। आखिर सेठ ने लड़के का भोजन बन्द कर दिया और कहा-तूँ स्कूल नहीं जायगा तो भोजन नहीं मिलेगा। पूरा दिन बीत गया और रात भी समाप्त हो गई। दूसरे दिन सेठ ने उसे फुसलाते हुए कहा—अगर तूँ स्कूल जायगा तो बढ़िया दूध पीने को दिया जायगा। लड़का दिन-रात का भूखा था, अतएव उसने सेठ की बात स्वीकार करली।

तब माता कटोरे में दूध लाई और कटोरा रख कर कार्यवश बाहर चली गई। इसी समय उसकी एक पड़ौसिन आ पहुँची। वह स्वभाव की अत्यन्त क्रूर थी और उस लड़के पर द्वेष रखती थी। उसने चुपके से दूध में जहर की पुड़िया मिला दी।

लड़के ने कटोरा उठाया और दूध पीना ही चाहता था कि उसकी माता आ गई। उसे दूध का रंग बदला हुआ देख कर शंका

उत्पन्न हुई, अतएव उसने लड़के के हाथ से कटोरा छीन लिया। यह देख लड़का बहुत गालियाँ बकने लगा और कहने लगा—तूं मुझे मार डालना चाहती है।

मौका देख कर पड़ौसिन ने भी कहा—अरे रे, बेचारे लड़के को भूखा मार डाला! तुझे तनिक भी दया नहीं आती। पी लेने दो न यह दूध!

सेठानी कुछ नहीं बोली परन्तु उसकी शंका ज्यों की त्यों बनी रही। पड़ौसिन के चले जाने पर उसने दूसरे कटोरे में दूसरा दूध लड़के को दे दिया। वह जहरीला दूध परीक्षा के निमित्त कुत्ते को पिलाया गया। पीते ही कुत्ता चक्कर खाकर गिर पड़ा किन्तु विष-नाशक औषध देकर उसे अच्छा कर दिया गया।

इसी प्रकार दुर्व्यसनी और मिथ्यात्वी साधुओं के जाल में फंसे हुए लोगों को सद्गुरु वीतराग वाणी रूपी शुद्ध दूध का प्याला पिलाते हैं और मिथ्यात्व रूपी जहर से बचाते हैं। किन्तु अज्ञानी जनों को, जहर पिलाने वाले लोग हितचिन्तक मालूम होते हैं, जब कि धर्म माता हत्यारी जान पड़ती है—सद्गुरु अहित करने वाले प्रतीत होते हैं।

बालक अपने अविवेक के कारण कुछ भी समझे, असली स्नेहमयी माता अपने पुत्र को जहर का प्याला कदापि नहीं पीने देगी। अतएव आपको चेतावनी देते हैं कि—हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि पापों को धर्म बतलाने वाले लोगों के चक्कर में मत पड़ो और असली दयामय धर्म को ही हृदय में स्थान दो। सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म के स्वरूप को पहचानो और

उनकी परीक्षा करो। उन पर दृढ़ श्रद्धा रक्खो। नौका में बिठलाने वाला मल्लाह नदी पार करने के बदले पैसा लेगा, मगर सद्गुरु तो भव-सागर से पार उतारने पर भी कुछ नहीं लेते हैं। अतएव एक बार अच्छी तरह परीक्षा करके देख लो और शास्त्रोक्त लक्षणों तथा अनुभव ज्ञान से जब निश्चय हो जाय कि वास्तव में यह सद्गुरु पद के योग्य है, तब उस पर निश्चल श्रद्धा करके अपना जीवन उसे सौंप दो, अर्थात् उसके कथन का पूरी तरह अनुसरण करो। ऐसा करने से आपका मनुष्य जन्म पाना सार्थक होगा और आपकी आत्मा का महान् कल्याण होगा।

श्री ठाणांग सूत्र में चार प्रकार के घोड़े बतलाये गये हैं—

(१) कोई कोई घोड़ा सब प्रकार से युक्त होता है और शृंगार किया हुआ भी होता है।

(२) कोई कोई युक्त नहीं होता पर सिंगारा हुआ होता है।

(३) कोई कोई सिंगारा हुआ नहीं होता परन्तु सब प्रकार से युक्त होता है।

(४) कोई-कोई न युक्त होता है, न सिंगारा होता है।

इसी तरह चार प्रकार के पुरुष होते हैं। कोई-कोई पुरुष सब तरह से युक्त भी होते हैं और धर्म ध्यान में आगे भी होते हैं कई लोग दीखने में युक्त होते हैं परन्तु उनमें धर्म प्रेम नहीं होता। कोई दीखने में तो युक्त नहीं हैं—कोतल घोड़े दिखाई नहीं देते तथापि धर्म ध्यान में मजबूत होते हैं। कोई कोई न युक्त होते हैं और न धर्म ध्यान में निरत होते हैं।

संसार में अनेक लोग ऐसे मिलेंगे जो देखने में बड़े भले दिखाई देते हैं, मगर जिन्हें धम पर तनिक भी श्रद्धा नहीं होती। वे अपने लौकिक कर्त्तव्यों का भी ठीक तरह निर्वाह नहीं करते। अपने पड़ौसी को, यहां तक कि माता, पिता और भाइयों तक को पीड़ा पहुँचाते हैं। उन्हें अपने कर्त्तव्य का विवेक ही नहीं होता। घमण्ड में चूर रहते हैं। अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझते। न कभी सामायिक-प्रतिक्रमण करते हैं; न उपवास व्रत नियम आदि का सेवन ही करते हैं। खाना, पीना, और मौज उड़ाना ही उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य होता है। कई लोग धर्म-क्रिया करते भी हैं तो केवल दिखावे के लिए करते हैं, मगर उनका वास्तविक जीवन छल-कपट, झूठ और अप्रामाणिकता से भरा हुआ होता है। वे धर्म स्थान में कुछ बर्त्ताव करते हैं और बाहर निकल कर कुछ और ही प्रकार से व्यवहार करते हैं। अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए दूसरों का अधिक से अधिक नुकसान करने में किंचित् भी संकोच नहीं करते। दूसरों की झूठी बदनामी करके आप अच्छा बनने का प्रयत्न करते हैं।

परन्तु ऐसे लोग अपना घोर अहित करते हैं। उन्हें नहीं मालूम कि वास्तव में जीवन का ध्येय क्या है और उसे किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए ? वे थोड़े दिन तक मौज कर लेते हैं, किन्तु उनका भविष्य अंधकारमय बन जाता है।

कई व्यक्ति वास्तव में धर्मनिष्ठ होते हैं। वे धर्म की आराधना करते हुए आत्मकल्याण भी करते हैं और जाति, देश तथा धर्म की भी सेवा करते हैं। उनका जीवन और उनकी समग्र शक्ति स्व-पर में ही लगती है।

भाईयो ! जाति या देश की सेवा करते हुए अपने धर्म में भी पक्का रहना चाहिए। सत्य तो यह है कि जो अपने धर्म पर दृढ़ रहता, है वही देश और समाज की सच्ची सेवा कर सकता है। जिसका जीवन ही धर्ममय नहीं है, जो अधर्म में निरत रहता है और जो अपना भी कल्याण नहीं कर सकता, वह दूसरों की क्या भलाई कर सकता है ? जो स्वयं अन्धकार में भटक रहा है, वह दूसरों को कैसे प्रकाश दे सकता है ? महात्मा गांधी देश की स्वाधीनता के लिये भी कार्य करते हैं और सन्ध्यासमय नियमपूर्वक ईश्वरप्रार्थना भी करते हैं। वे राजनीति को भी धर्म से निरपेक्ष नहीं समझते। किन्तु आज-कल के कहलाने वाले देशसेवक पर्युषण पर्व के आठ दिनों में भी न तो सामायिक करते हैं और न उपवास ही करते हैं। बिना समझे बूझे 'खादी खादी, देश की आजादी' की रट लगाते हैं। नेता कहलाने वाले जमीन-आसमान एक करते हैं। मगर याद रखना चाहिए, दंभ, पाखंड या दिखावे से काम नहीं चलने वाला है। दिखावा कितने दिन चलेगा ? कब तक दुनिया को धोखे में रक्खा जा सकता है ? वागा-डम्बर से कितने दिन तक ठगाई की जा सकती है ? आखिर तो सचाई सामने आयेगी ही अतएव जो भी मनुष्य सेवा के क्षेत्र में पैर बढ़ाना चाहता है, उसे पहले अपने जीवन पर दृष्टि डालना चाहिये। अपने आचार - विचार को पवित्र बनाने और जीवन को ऊँचा उठाने के बाद ही दूसरों को उठाने का प्रयास सफल होता है। सेवा के पीछे शुद्ध और उच्च भावना होनी चाहिए। यश और कीर्त्ति की अभिलाषा नहीं होनी चाहिए। अच्छा कार्य करने पर यश-कीर्त्ति तो स्वतः प्राप्त हो जाति है। उसकी कामना से अपनी आत्मा को क्यों कलुषित किया जाय ?

भाइयो ! आपका कर्त्तव्य है कि प्रारंभ से ही आप अपने बालकों को धर्म की शिक्षा दें। बालक के भावी जीवन का आधार उसके बचपन

के संस्कार होते हैं। कोमल वय में जो संस्कार मिलते हैं, वह आगे चल कर अन्त तक उसे प्रभावित करते हैं। वही संस्कार जीवन को दशा प्रदान करते हैं। अतएव बालक को प्रारंभ में सँभालना अत्यावश्यक है। मुसलमान अपने बालक को सर्वप्रथम कुरान सिखलाते हैं, इसी कारण वे धर्म पर मर मिटने को तैयार रहते हैं। आप भी अपनी सन्तान को शुरु से ही धर्म के रंग में रंग दें। अगर आपने ऐसा नहीं किया तो फिर धर्म का रंग चढ़ना कठिन होगा।

राजा देवक ने अपनी पुत्री देवकी को अन्यान्य गृहस्थोपयोगी शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षा भी दी। दूसरे दहेज के साथ दस गोकुल भी दिये। गोकुलों की रक्षा और सार-सँभाल के लिए नन्द अहीर भी दिया गया। ठाट के साथ, देवकी के साथ वसुदेवजी का विवाह हुआ।

कुछ काल के पश्चात् अयवन्ता मुनि मासखमण की पारणा के लिए राजा देवक के महल में आए। रानी तथा देवकी, दोनों उस समय बैठी हुई थीं। रानी जीवयशा ने अयवन्ता अनगार को पहचान लिया और वह उनसे हँसी-मजाक करने लगी। कहावत प्रसिद्ध है—'रोग का घर खांसी और लड़ाई का घर हांसी।'

रानी ने मुनिराज से कहा—देवर! तुम क्षत्रिय जाति में और राजवंश में उत्पन्न हुए हो, फिर भी यह कैसा धंधा अंगीकार कर रक्खा है! बगल में तलवार लटकाने के बदले यह क्या दबा रक्खा है। घर-घर भीख मांगते फिरते हो! न रहने का ठौर-ठिकाना है और न पहनने ओढ़ने का ही। यह सब छोड़ो और महल में आ जाओ। आपके भाई के यहाँ किसी चीज की कमी नहीं है। विवाह भी हो जाएगा। आनन्दपूर्वक रहो और मौज करो। तुम कोई

साधारण परिवार में नहीं जन्मे हो। मथुराधीश के भाई हो। तुम्हारे ऐसे आचरण से हम लोगों को शर्म मालूम होती है।

मुनिराज रानी को अज्ञानभरी बातें शान्तिपूर्वक सुनते रहे। अन्त में बोले—आहार की जोगवाई हो तो दे दो, नहीं तो जाने का रास्ता दो।

मगर जीवयशा अपनी जगह से नहीं हटी।

मुनिराज को किंचित् क्रोध आ गया और वह ध्यान लगा कर सोचने लगे—इस अभिमानिनी के पुण्योदय के कितने दिन शेष हैं?

जब उन्हें उसका भविष्य मालूम हो गया तो कहा रानी, इतना घमण्ड क्यों करती हो? संसार की परिवर्त्तन-शीलता सर्वत्र दिखलाई पड़ रही है। कहीं कोई भी वस्तु नित्य या स्थिर नहीं। सब क्षण-क्षण में पलट रही हैं। आज जिस मनुष्य की जो दशा है, वह कल नहीं थी और आगामी कल भी नहीं रहने वाली है। इस भूतल पर असंख्य-अनन्त राजा हुए और रानियों ने भी विलास किया। मगर आज वह कहाँ हैं? तो क्या तुम्हारा यह वैभव सदा के लिए है? तुम्हारा जीवन सदा बना रहेगा? अगर नहीं तो फिर इतना घमण्ड किस बात का?

परिवर्त्तन प्रकृति का नियम है। यह नियम जड़ और चेतन सभी पर समान रूप से लागू होता है। फूल जो खिलता है, कुम्हलाता भी है। सूर्य का उदय होता है तो अस्त भी होता है। जो चढ़ता है वह गिरता है।

मुनि फिर बोले देखो, यह देवकी भारतक्षेत्र में दूसरे नंबर की माता होगी। इसके उदर में श्रीकृष्ण नामक पुत्र उत्पन्न होगा जो तुम्हारे पति और पिता का वध करके तुम्हें पतिहीन और पितृहीन बनाएगा।

रानी इस कठोर और भीषण भविष्यवाणी को सुन कर थर-थर कांपने लगी।

मुनिराज उसी समय बाहर निकल गए। रानी थोड़ी देर स्तब्ध और जड़भूत रह कर होश में आई तो उसने कंस को सारी बात सुनाई। कंस भी अपनी मृत्यु की बात सुन कर दहल उठा।

कौन नहीं जानता कि जिसका जन्म हुआ है, उसका मरण अवश्यंभावी है; कहा है—

जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः।

फिर भी मनुष्य अपनी मृत्यु की कल्पना मात्र से अत्यंत दुखित होता है। इसका कारण अगर खोजा जाय तो पता चलेगा कि उसके भय का कारण उसका पापाचार है। जिसने पाप का आचरण किया है वह जानता है कि मरने पर उनका कटुक फल भुगतना पड़ेगा अगर इसी कारण वह थरथर काँपता है, दीन बन जाता है। इससे विपरीत, जो संयम का परिपालन करते हैं और पवित्र जीवन यापन करते हैं, उन्हें मृत्यु का भय नहीं रहता। वे समभाव से मृत्यु का आलिंगन करते हैं। कंस ने अपने जीवन में जो अनीति और अत्याचार किये थे, असल में वही उसे डरा रहे थे। उसने मुनिराज की भविष्यवाणी झूठी साबित करने के लिए वसुदेवजी के पुत्रों को माँग लिया।

वसुदेवजी को इस रहस्य का पता नहीं था, अतएव उन्होंने सहज स्वभाव से स्वीकृति दे दी।

जब उन्हें देवकी से सारी कैफियत मालूम हुई तो वे पछताए और कंस से बोले—अरे कपटी कंस ! तूने मुझे ठग ही लिया !

परन्तु प्राचीन काल के क्षत्रिय अपने वचन के पक्के होते थे। उनकी अटक टेक थी कि—

'प्राण जाए पर वचन न जाई।'

तो वचन में बँध जाने के कारण वसुदेवजी के लिए कोई चारा नहीं रहा और उन्हें अपने पुत्र कंस के क्रूर हाथों में सौंपने पड़े।

कंस चाहता था कि वसुदेव का कोई भी पुत्र जीवित न बचने पावे। मगर मनुष्य के चाहने अथवा न चाहने से ही क्या होता है ! जो जीव प्रबल पुण्य लेकर जन्मा है और प्रगाढ आयु बाँध कर आया है, उसे कोई मार नहीं सकता। वसुदेवजी के पुण्यशाली पुत्रों के विषय में भी यही हुआ।

दैवी माया से जब देवकी के गर्भ से पुत्र का जन्म होता तभी सुलसा नामक सेठानी भी मरे हुए पुत्र का प्रसव करती थी। हिरण-गमेषी देवता सुलसा के मृतक पुत्रों को देवकी रानी के पास और देवकी के पुत्रों को सुलसा के पास पहुँचा दिया करता था। कंस को इस रहस्य का पता न चलता और जब मृतक पुत्र उसके पास पहुँ-चाया जाता तो वह अत्यन्त प्रसन्न होता और सोचता-मेरा प्रताप कितना प्रबल है कि देवकी स्वयं मरे हुए पुत्र प्रसव करती है ! फिर

भी वह अपनी क्रूर प्रकृति के कारण उन मरे हुए पुत्रों को भी धरती पर पछाड़ दिया करता था।

इस प्रकार के देवकी छह पुत्र सुलसा के पास पहुँच गए और वहाँ उनका लालन-पालन होने लगा। सातवें पुत्र श्रीकृष्णजी के जन्म का समय आया, तो कंस बहुत चौकन्ना था। उसे देवकी के सातवें पुत्र से ही खतरा था। अतएव उसने बहुत कठोर पहरे में देवकी और वसुदेव को नजरबन्द कर रक्खा था। परन्तु दैव जिसका रक्षक है, मानव उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। जब कृष्णजी का जन्म हुआ तो देवकी ने वसुदेव से कहा - नाथ, इस पुत्र की किसी भी उपाय से रक्षा कीजिए।

वसुदेव अत्यन्त उदास होकर बोले - देवी, देख तो रही हो, कितना सख्त पहरा है। द्वार बंद है और ताले लगे हैं। कैसे बाहर निकला जाएगा?

देवकी अनुनय के स्वर में, आँखो में आंसू भर कर बोली— अपना कर्त्तव्य पुरुषार्थ करने का है, वह करें। आगे जो भवितव्य होगी सो होगा। यह बालक किसी प्रकार गोकुल में यशोदा के घर पहुँच जाय तो इसकी रक्षा हो सकती है।

वसुदेव ने इधर-उधर नजर दौड़ा कर देखा तो पहरेदार नींद में गाफिल पड़े थे। उनकी हिम्मत बढ़ी। दरवाजे पर आते ही और कृष्णजी के पैर का स्पर्श होते ही द्वार फड़ाक से खुल गया। यह चमत्कार देख कर वसुदेव जी का काफी उत्साह बढ़ गया और वे रात्री के घोर अन्धकार में कृष्णजी को लेकर गोकुल की तरफ चले। मार्ग में यमुना आती थी और वर्षा के कारण तेजी से बह रही थी। मगर कृष्णजी के

पुण्यातिशय पर विश्वास रख कर वे यमुना में धँस गए। यमुना ने दो भागों में विभक्त हो कर उन्हें रास्ता दे दिया। इस प्रकार घोर संकटमय परिस्थिति में भी वसुदेवजी गोकुल जा पहुँचे और श्रीकृष्ण को यशोदा के सिपुर्द करके और यशोदा की मृतक कन्या को लेकर वापिस लौट आये। दैवप्रभाव से कारागार के किवाड़ पहले की भाँति बन्द हो गये। जब यह सब काम हो चुका तब कहीं पहरेदारों की नींद खुली।

कृष्णजी गोकुल में आनन्द के साथ बढ़ने लगे। दूध, दही और मक्खन ही उनका मुख्य भोजन था। यशोदा माता बड़े ही चाव से और लाड़-प्यार के साथ उनका पालन-पोषण करने लगी।

देवकी कभी-कभी त्यौहार के बहाने गोकुल चली जाती और कृष्णजी को खेला कर अपना मन बहला आती थी। जब जाती तो तरह-तरह की चीजें उसके लिए ले जाती और अपने हृदय को सन्तुष्ट करती थीं।

किसी प्रकार कंस के कानों तक यह बात पहुँच गई। उसने दो दूतियों को तैयार किया। उनके स्तनों पर जहर पोत दिया गया और उन्हें आदेश दिया गया कि कृष्ण को स्तन पिला देना। वे दोनों यशोदा के घर पहुँचीं। उसकी अनुपस्थिति में कृष्णजी को दूध पिलाने लगीं। कृष्ण बालक सारी बात जान गए और उन्होंने बड़े जोर से दोनों के स्तनों को काट डाला। वे दोनों वहीं ढेर हो गईं। यशोदा आई और उन्होंने सारा वृत्तान्त जान कर उन्हें एक तरफ गांव के बाहर फिकवा दिया।

एक बार उन्होंने शकटासुर को भी मार गिराया। अन्यान्य राक्षसों का भी वध किया। बाल्यावस्था में ही उन्होंने पराक्रम के जो

काम कर दिखाए, उनका वृत्तान्त पढ़ कर ही दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है।

कृष्णजी की बाललीला भारत में प्रसिद्ध है। भारत का साहित्य उनकी लीलाओं का वर्णन करके कृतार्थ हो गया है, यद्यपि यह कहना पड़ेगा कि किसी-किसी कवि ने उसमें अत्युक्ति और अश्लीलता का का भी समावेश कर दिया है।

एक दिन कृष्णजी एक सांप पकड़ लाए और यशोदा मैया से कहने लगे—ले मैया, यह तेरे दही बिलोने के लिए रस्सी ले आया हूँ! कितना साहस था उनमें! कैसी अद्भुत निर्भीकता थी उनकी!

जब कुछ बड़े हुए तो अन्यान्य गोपाल बालकों के साथ वे भी गौवें चराने के लिए जाते और अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते। वे वहाँ सभी के प्रिय थे। अड़ौस-पड़ौस में कभी पहुँच जाते और गोपियों की नजर बचाकर कभी किसी का दही खा जाते तो कभी किसी का मक्खन खा जाते। उनकी ऐसी हरकतों से भी कोई गोपी अप्रसन्न नहीं होती थी।

कृष्णजी ने अपने बचपन में अनेक साहसपूर्ण कार्य किये, जिनका वर्णन आपको मालूम ही होगा।

इस प्रकार देवकी ने सात पुत्रों को जन्म दिया, जिनमें छह का सुलसा सेठानी के यहाँ और एक का यशोदा के यहाँ पालन-पोषण होने लगा।

आगे क्या होता है, यह यथासमय ज्ञात होगा।

ब्यावर
२४-८-४१

महान् जीवन

卐

> अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
> त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
> यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
> तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान् पुरुषोत्तम प्रभो ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? कहाँ तक आपके गुणों का गान किया जाय ?

हे जगद्गुरु ! पुरुषोत्तम, सर्वोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत तो हो गया हूँ, पर मुझ में स्तुति करने की योग्यता नहीं है । मैं अल्पश्रुत हूँ मेरा शास्त्रज्ञान अत्यल्प है । इतना अल्प कि मैं शास्त्रज्ञ जनों के उपहास का पात्र हूँ ।

कोई कह सकता है कि यदि स्तुति रचने की योग्यता नहीं है तो रचने का साहस ही क्यों करते हो ? संसार में बहुत मनुष्य हैं ।

ये सब स्तोत्र रचना नहीं करते हैं । उनकी भाँति तुम भी चुपचाप क्यों नहीं रहते ? बात उनकी यथार्थ है। अगर मैं चुप रह पाता तो अच्छा ही था, परन्तु चुप रहना भी तो नहीं हो सकता। मेरे अन्तः करण में भगवान् के प्रति जो प्रबल और अगाढ़ भक्ति है, वह मुझे चुप नहीं रहने देती। उसकी प्रबल प्रेरणा को मैं दबा नहीं सकता वह मुझे बलात् मुखर बना रही है। मेरे न चाहने पर भी भक्ति के कारण मुँह से स्तोत्र के शब्द जबर्दस्ती निकल पड़ते हैं।

जब ऋतुपति वसन्त का आगमन होता है और आम्र की मंजरियाँ खिल उठती हैं और अपनी मादक सुगंध को वातावरण में फैलाती हैं, तब कोकिल से रहा नहीं जाता। वह 'कुहू-कुहू' की ध्वनि उच्चारण करने लगती है। वह रह नहीं सकती।

इसी प्रकार हे नाथ ! मेरी शक्ति न होने पर भी आपकी भक्ति स्तुति के लिए प्रेरित कर रही है। इसी कारण मैं आपके गुणगान में असमर्थ होने पर भी स्तुति करने को तैयार हो गया हूँ। विज्ञ जन उपहास करेंगे तो भले करें, जगहँसाई हो तो हो; मगर मैं भक्ति से विवश हूँ और स्तुति किये बिना मुझसे रहा नहीं जाता।

भाइयो ! आचार्य मानतुंगजी ने अपनी कितनी लघुता प्रकट की है ? सत्य तो यह है कि जो इस प्रकार विनम्र होता है, जिसके चित्त को अहंकार स्पर्श भी नहीं कर सकता, वही भगवान् की स्तुति करने का पात्र है और उसी के द्वारा की हुई स्तुति सफल होती है।

जिन्होंने भक्तामरस्तोत्र को भलीभाँति समझा है, उन्हें भलीभाँति ज्ञात है कि यह स्तोत्र कितना सुन्दर, मनोहर और भावपूर्ण है। इसे समझ-समझ कर पढ़ने वाला भक्ति के रस में डूब जाता है।

इनके हृदय से भक्ति की विमल धारा प्रवाहित होने लगती है। स्तोत्र में अर्थ की गंभीरता तो है ही, उसके शब्दों का चयन भी अत्यन्त सुन्दर है। तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से इतनी उत्तम रचना करने वाले आचार्य भी अपने को 'श्रुतवतां परिहासधाम' अर्थात् श्रुतधरों के सामने हँसी का पात्र कहते हैं। वास्तव में ऐसा कह कर उन्होंने अपनी विनयशीलता पर स्वर्णकलश चढ़ा दिया है और हम लोगों के समक्ष यह आदर्श उपस्थित कर दिया है कि थोड़ा-सा ज्ञान पाकर अहंकार मत करो शास्त्र अपार सागर के समान हैं। उसमें जितना-जितना अवगाहन करोगे, उतनी ही उतनी उसकी गंभीरता ज्ञात होगी। अतएव जब ज्ञान का अहंकार होने लगे तो अपने से अधिक ज्ञानियों के संबंध में विचार करो। उनके साथ अपनी तुलना करो और फिर सोचो कि हमारा ज्ञान कितना अल्प है! अगर थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त करके गर्व करने लगोगे तो तुम्हारा विकास रुक जाएगा और अहंकार की वृद्धि से अशुभ कर्म का बंध होगा।

भाइयो! स्तुति का यह काव्य सरस्वती का महामंत्र है। जो व्यक्ति शुद्ध हृदय से इसका पठन करते हैं, उनकी विद्या की वृद्धि होती है। नित्य पाठ करने से परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त होती है। प्रकृत स्तोत्र के एक-एक काव्य में गंभीर अर्थ छिपा हुआ है। तो जिनके सम्पूर्ण गुणों का स्तवन होना सम्भव नहीं है, उन श्री ऋषभदेव भगवान् को ही हमारा बार-बार नमस्कार हो।

जैसे आम्रमंजरी से कोयल का कंठ खुल जाता है उसी तरह भगवान का गुणग्राम करने से मनुष्य की बुद्धि विशाल हो जाती है।

द्वादशांगी की समस्त वाणी सरस्वती है। यह सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग जिनेन्द्रदेव के मुखारविन्द से निसृत गिरा है। इस वाणी

का जिस पर प्रसाद हो जाता है, वह मूर्ख भी पंडित बन जाता है।

भाइयों वीतराग की वाणी सुनने का अवसर अतिशय पुण्य-शाली पुरुषों को ही मिलता है। आप जानते हैं कि संसार में कितने प्रकार के जीवधारी हैं। उनमें से अधिकांश को तो श्रोत्रेन्द्रिय ही प्राप्त नहीं है। जिन्हें श्रोत्रेन्द्रिय मिली है, उनमें भी बहुत से जीव ऐसे हैं जो असंज्ञी हैं। वे अपने हिताहित के विवेक से शून्य हैं। वे जिनवाणी श्रवण करने के पात्र नहीं है। जो संज्ञी हैं उनमें भी नरक के असंख्यात जीवों को यह वाणी सुनने का अवसर नहीं मिलता। असंख्य पशुओं और पक्षियों में भी इतना विवेक नहीं कि वे इसे सुन और समझ सकें। देवगण प्रायः स्वर्गीय सुखों में डूबे रहते हैं। इस प्रकार केवल मनुष्य ही रह जाता है जो वीतराग की वाणी को सुन और समझ सकता है और चाहे तो उसके अनुसार अमल भी कर सकता है। मगर सब मनुष्यों को भी यह सुअवसर कहाँ मिलता है? जो आर्य क्षेत्र में, उत्तम कुल में, धार्मिक वातावरण में जन्मे हैं, उनमें से भी कोई-कोई ही इसे श्रवण करने का अवसर पाते हैं। अतएव जिनका पुण्य अतिशय प्रबल है वही मनुष्य इस कल्याणकारिणी, पतितपावनी, जगदुद्धारिणी वाणी से लाभ उठा सकते हैं।

किन्तु जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, मानव जीवन को सार्थक करने का उपाय भगवद् वाणी को श्रवण करना, उसका चिन्तन मनन करना और उसीके अनुसार यथा शक्ति व्यवहार करना है। भगवान की वाणी का अनुसरण किये विना इस जीवन का लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतएव हे भव्य जीवो! अगर अपने जीवन को सुखमय और कल्याणमय बनाना चाहते हो

तो भगवद्वाणी को आदर के साथ सुनो और उसी के अनुरूप अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करो।

श्री ठाणांग सूत्र में चार प्रकार के घोड़े बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) कोई-कोई घोड़ा सुन्दर आकृति का होता है, चलने में भी तेज होता है, चाबुक नहीं खाता और सवार को तनिक भी तकलीफ नहीं देता है।

(२) कोई कोई घोड़ा सुन्दर रूपवान होता है, परन्तु उसकी चाल गधे के जैसी होती है। उसे चलते देख कर कोई कहता है—घोड़ा क्या गधा जा रहा है।

(३) कोई कोई घोड़े दीखने में साधारण होते हैं,शोभनीक नहीं होते, मगर चाल में इतने अच्छे कि उनके मुकाबिले का दूसरा घोड़ा नहीं होता हैं।

(४) कोई-कोई घोडे न दीखने में अच्छे और न चाल में ही अच्छे होते हैं।

इसी तरह चार प्रकार के पुरुष होते हैं। कोई पुरुष अच्छे ठिकाने के होते हैं, शरीर भी उनका सुन्दर होता है, महा भाग्यवान् होते हैं, किसी सभा में जाकर बैठें तो सभा भी खिल उठती है। वे सब प्रकार से सम्पन्न भी होते हैं और उदारचित्त भी होते हैं। गरीबों को भोजन देकर सहायता करते हैं, वस्त्रादिक देते हैं। अपने पड़ोसियों को भी आराम पहुँचाते हैं। साधु-सन्तों की संगति करते हैं और खूब सेवा करते हैं।

कई मालदार ऐसे भी देखे जाते हैं जो जरूरतमन्द लोगों को उधार दे देते हैं और फिर उनसे माँगते भी नहीं हैं ऐसे उदार हृदय लोगों का पैसा कोई रखना नहीं चाहता। लोग तकलीफ उठा कर भी वापस करते हैं। ऐसे उदारचित्त सज्जनों का राजकीय क्षेत्र में भी सम्मान होता है।

आगरा में सेठ लगवन्तसिंहजी बड़े ही उदार चित्तसज्जन थे। जो भी उनके पास पहुँचता, सबकी मदद करते। कोई कहता— मेरे भाई को सजा हो गई है तो वे उनकी यथा योग्य सहायता करते। प्रत्येक के संकट को दूर करने की वे चेष्टा करते थे।

उनका किसी एक भाई के साथ विरोध चल रहा था। जब मैंने व्याख्यान में उपदेश दिया तो उन लालाजी पर उसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। वे एकदम उठ बैठे और अपने विरोधी से क्षमायाचना की। अन्त में उच्च भावना के साथ उनकी मृत्यु हुई।

आनन्द श्रावक का चरित आपने सुना होगा। वह भगवान महावीर के उपासक दशांग सूत्र में वर्णित दस श्रावकों में प्रथम हैं। वह शरीर से भी शोभनीक थे और राज्य में भी प्रतिष्ठा प्राप्त थे। राजा, युवराज, सेठ, साहूकार आदि सभी श्रेणी के लोग उनसे परामर्श लिया करते थे और अपनी गुप्त से गुप्त समस्याएँ उनके सामने हल करने के लिए प्रस्तुत करते थे। क्या घर के और क्या नगर के, कोई भी लोग उनकी सम्मति के विरुद्ध काम नहीं करते थे। वह सबके लिए आधारभूत और सबके मार्गदर्शक थे। सभी को हितकारी परामर्श ही दिया करते थे।

साधुओं में भी जो सबसे हिल-मिल कर चलता है, वह सब का प्रिय एवं आदरणीय होता है। जो हिल-मिल कर नहीं चलते,

वे गच्छ को छिन्न भिन्न कर देते हैं। इससे पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है और आत्मिक शान्ति में तथा संघ की एकता में व्याघात उत्पन्न होता है।

कई पुरुष रूपवान होते हैं, अन्य प्रकार से भी अच्छे होते हैं, मगर अच्छे परिणाम नहीं होते। वे जहाँ जाते हैं वहीं सबका नुकसान करते हैं। ऐसे लोगों के विषय में कहा जाता है—

रंग घोड़े गुण गधे और बातों टप्पे।
लेने देने में कुछ नहीं, जैसे गूलर-गप्पे।

ताड़ का पेड़ कितना ऊंचा होता है? उसका ऊपरी सिरा देखने के लिए गर्दन ऊंची उठानी पड़ती है। मानों आसमान को भेद कर ही रहेगा। मगर उसकी ऊंचाई किस काम की। छाया तो उसकी होती नहीं। धूप से सन्तप्त पथिकों को वह आराम नहीं पहुँचा सकता। ऐसे ही कई मनुष्य सब बातों में योग्य होते हुए भी किसी को अपनी उदारता का परिचय नहीं देते अतएव कोई उनकी प्रशंसा नहीं करता।

एक लखपति के पास गरीब का मकान भी था। किन्तु जब उन सेठ साहब से कोई उस गरीब के विषय में पूछता तो वह कहते— रहता होगा कोई मंगता। इतना अभिमान था उसे अपनी दौलत का।

भाईयों! दौलत क्या अभिमान करने की चीज है? क्या वह सदैव रही है और सदैव रहेगी? नहीं। वह तो किसी भी समय चली जाती है। कदाचित् वह न जाय तो मनुष्य को उसे छोड़ कर जाना पड़ता है। मनुष्य जब परलोक की तरफ प्रयाण करता है तो

सारी सम्पदा यहीं रह जाती है—उसका थोड़ा-सा अंश भी साथ नहीं जाता। और यह तो आपको मालूम ही है कि एक न एक दिन मरना सब को पड़ता है। चाहे कोई भी लखपति हो या कोई भी करोड़पति, राजा हो या रंक यमराज के पंजे सभी की गर्दन पर पड़ते हैं। उनसे किसी का बचाव नहीं हो सकता। मृत्यु के पश्चात् दो बातें रह जाती हैं—भलाई और बुराई।

भलाई और ही मृतात्मा का दुनिया का परिचय कराती है। जिसने अपने जीवन में दूसरों की भलाई की है। कभी किसी को हानि नहीं की, जो सब के प्रति सदय और सहृदय रहा, जिसने सदाचारपूर्वक अपना जीवन यापन किया है, मरने के बाद सभी लोग उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। यह उसकी भलाई है। मगर जो धन-सम्पत्ति सत्ता, बल आदि प्राप्त करके अहंकार में चूर हो गया, जिसने कभी किसी का उपकार नहीं किया, जो दूसरों को हानि पहुँचाने में ही रहा, मरने के बाद भी लोग उसके नाम से घृणा प्रकट करते हैं। सर्वत्र उसकी बदनामी और बुराई करते हैं। ऐसे लोगों का जीवन असफल समझना चाहिए। उनका मनुष्य जन्म पाना न पाने के ही समान है। उन्होंने इस जीवन से कुछ भी लाभ नहीं उठाया।

धन चाहे जब मिल सकता है किन्तु यह समय बार-बार मिलने वाला नहीं। अतएव धन के लिए जीवन का सारा समय समाप्त मत करो। धन तुच्छ वस्तु है; जीवन महान है। धन के लिए जीवन को बर्बाद कर देना कोयलों के लिए चिन्तामणि को नष्ट कर देने के समान है। यह वह जीवन है जिसका यदि सदुपयोग किया जाय तो अनन्त भविष्य मंगलमय बनाया जा सकता है। इस जीवन से स्वर्गीय वैभव भी खरीदा जा सकता है। मगर खेद की बात है कि लोग इस जीवन के वास्तविक मूल्य को नहीं समझते और तुच्छ चीजों के लिए इसे बर्बाद कर देते हैं।

कई पुरुष ऐसे भी होते हैं जो न तो लखपति हैं, न करोड़पति, साधारण कोटि के हैं किन्तु है महाभाग्यवान्। सारी दुनिया उनको आदर की दृष्टि से देखती है। उनकी प्रशंसा करती है।

किसी जगह एक महाजन रहता था। उसके पास चार-पाँच हजार की पूंजी थी। सं० १६६१ में वह मेरे परिचय में आया था। वह इतना धर्मात्मा था कि साधु साध्वियों को आहार दान दिये बिना भोजन नहीं करता था। कोई मँगता-भिखारी उसके द्वार पर आ जाता तो वह सोचता-रोटी तो इसे कहीं भी मिल जाएगी! मैं इसे कोई ऐसी चीज दूँ जो अन्यत्र न मिले। यह सोच कर वह उसे जलेबियाँ दिलवा देता। वह प्रतिदिन पाँच सामायिक करता और एक बार ही भोजन करता था वह अच्छा खाता और खिलाता था। उसके पत्नी नहीं थी, अतएव बहिन उसके पास रहती थीं। बहिन को उसने कह रक्खा था-अच्छा खाओ और अच्छा साधु-सन्तों को दिया करो। वह जब कभी दूसरे गांव जाता तो मिठाई साथ में ले जाता और सब बच्चों को बांटा करता था। सन् छप्पन में अकाल पड़ा तो भी उसके आसामियों के गांव में पानी बरसा और धान्य निपजा। यद्यपि उसके पास बड़ी पूंजी नहीं थी, तथापि राज्याधिकारियों में भी उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। डाक्टरों या हाकिमों को जब वह बुलाता तो बुलावा पहुँचते ही वे फौरन आते थे। वह अपने सद्गुणों के कारण सबका प्रिय था।

जब उस सज्जन पुरुष की मृत्यु हुई और उसकी सम्पति का हिसाब लगाया तो कुल चार हजार की सम्पति निकली और जिस दिन उसकी मृत्यु हुई, उस दिन उसने बड़े चाव से सबको दया करवाई।

उसकी मृत्यु से सभी वर्गों को बहुत दुःख हुआ। कितने ही लोग आंसू बहा-बहा कर रुदन करने लगे। किसी ने कहा-भाई, रोते

क्यों हो ? वह मर गए तो क्या हुआ। उनसे अधिक धनी लखपति तो मौजूद हैं !

लोगों ने उत्तर दिया-हमारा लखपति तो गया; अब सब कंगले ही कंगले हैं !

इस प्रकार के लोग संसार के सामने एक आदर्श उदाहरण रख जाते हैं।

कोई-कोई पुरुष सामान्य होते हैं और सामान्य रूप से ही परिणत होते हैं। जो ये लोग हैं ये ऐसे न तो पुण्य उपार्जन करके आये हैं और न इस समय पुण्य उपार्जन कर ही रहे हैं। पूर्वकृत पुण्य का उदय न होने से इस समय विशिष्ट स्थिति में नहीं हैं और इस समय पुण्य उपार्जन न करने के कारण आगे भी विशिष्ट स्थिति नहीं प्राप्त करेंगे।

कुछ पुरुष ऐसे भी होते हैं जो पुण्य करके आए हैं और उस पुण्य के फलस्वरूप सब प्रकार के सुख भोग रहे हैं, आनन्द में विषय विलास में समय व्यतीत करते हैं, चैन की बंसी बजाते हैं और पापाचरण से भी परहेज नहीं करते। वे भूतकाल के धनी हैं, मगर भविष्य के भिखारी हैं। उस कपूत के समान हैं जो अपने पूर्वजों के संचित धन को बेरहमी के साथ उड़ाता है, मगर आगे के लिए कुछ भी उपार्जन नहीं करता। ऐसे पुरुषों का भविष्य अत्यन्त अन्धकारमय होता है।

भाइयो ! अब आपको सोचना है कि आप किस श्रेणी में रहना चाहते हैं ? अगर आपको अपने भविष्य की चिन्ता है और आप आगामी जीवन को सुखमय बनाना चाहते हैं तो आपको

पापों से विमुख होकर धर्म-पुण्य का ही आचरण करना चाहिए। इम पुण्यवानों की बात आपको सुनाते हैं।

राजा शंख प्रबल पुण्य उपार्जन करके अपराजित नामक विमान में देव पर्याय से उत्पन्न हुए। वहां की आयु पूर्ण होने पर, च्युत हो-कर सोरीपुर के राजा समुद्रविजयजी की रानी शिवा देवी को, जो महापुण्यवती थीं कुंख में आए। उसी रात्रि में महारानी शिवादेवी ने चौदह महामांगलिक स्वप्न देखे। यथा-(१) हाथी (२) वृषभ (३) सिंह (४) लक्ष्मी देवता (५) पुष्प माला (६) चन्द्र (७) सूर्य (८) ध्वजा (९) जल पूर्ण कुम्भ (१०) पद्मों से सुशोभित सरोवर (११) क्षार सागर (१२) देव विमान (१३) रत्नों की राशि और (१४) निधूम अग्नि।

महारानी ने अपने स्वप्नों की बात महाराज समुद्रविजयजी से कही। महाराज सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने रानी से कहा—तुम्हें महा भाग्यशाली पुत्र रत्न की प्राप्त होगी। यह स्वप्न अत्यन्त शुभ है।

उसी दिन उस नगर में अवधिज्ञानी मुनिराज भी पधार गए। राजा और रानी खूब सजधज के साथ मुनिराज की वन्दना करने के लिए गए। वन्दना करने के पश्चात राजा ने प्रश्न किया—आज रात्रि में रानी ने चौदह स्वप्न देखे हैं। कृपा करके धर्मपक्ष से इसका फल बतलाइए।

मुनिराज ने कहा—इस अवसर्पिणी काल में एक चक्रवर्ती और तीन तीर्थंकरों का जन्म होना शेष है। इन स्वप्नों से ज्ञात होता है कि महारानी के उदर से तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती का जन्म होगा।

राजा ने फिर स्वप्न पाठकों को भी बुलाया और उनसे भी स्वप्नों का फल पूछा। उन्होंने कहा—महाराज, जब कोई तीर्थंकर अथवा चक्रवर्त्ती माता के उदर में आते हैं तो माता यह चौदह महान् स्वप्न देखती है। अतएव महारानी या तो तीर्थंकर को जन्म देगी या चक्रवर्त्ती को। यह स्वप्न अत्यन्त कल्याणकारी और शुभ हैं।

स्वप्नों के फल को जान कर राजा और रानी की प्रसन्नता की सीमा न रही। रानी अत्यन्त सावधानी के साथ गर्भ की रक्षा करने लगी। उन्होंने अपने आहार-विहार पर अच्छी तरह से नियन्त्रण किया। न अधिक मीठा खाती, न अधिक चरका, न कटुक, न कषैला। चलने-फिरने आदि शारीरिक क्रियाओं में भी संयम से ही काम लेती थी।

गर्भ के जीव की भावनाओं का माता की भावना पर प्रभाव पड़ता है और माता की भावनाएं गर्भ की भावनाओं को प्रभावित करती हैं। अतएव माता शिवा देवी के हृदय में पवित्र और कल्याणमय भाव उत्पन्न होने लगा।

महान् पुरुष के गर्भ में आने के प्रभाव से महारानी के दिल में आया—हमारे राज्य के सब कसाईखाने बन्द होने चाहिए। राज्य भर में ऐसी सुव्यवस्था हो कि कोई प्राणी किसी भी दूसरे प्राणी को कष्ट न पहुँचावे। साधु-साध्वियों की संगति करूं, अभयदान दूं सुपात्र दान दूं, इत्यादि।

रानी के हृदय में इस प्रकार के प्रशस्त विचारों का आना स्वाभाविक ही था, क्योंकि जो जीव पुण्यात्मा होता है, वह आरम्भ से ही पुण्य के कार्य करवाता है।

गर्भकाल पूर्ण होने पर यथा समय श्रावण शुक्ला पंचमी की अर्ध रात्रि में, चित्रा नक्षत्र में, शुभ मुहूर्त्त में बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि का जन्म हुआ। छप्पन दिशा कुमारियों ने सूवक आदि सम्बन्धी सब कार्य किया।

उसी समय प्रथम देवलोक के शच्येन्द्र महाराज देवों के साथ यहां आते हैं और धन्य धन्य कहते हैं और बोलते हैं—

शिवा देवी महतारी तुमको लाखों प्रणाम !

ब्यावर
२५-८-४१

भावना का महत्त्व

卐

श्च्योतन्मदाविल विलोल कपोलमूल—
मत्तभ्रमद्भ्रमरनाद विवृद्ध कोपम् ।
ऐरावताभमिभ मुद्धत मयतन्तं,
दृष्ट्वा भय भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥

भगवान् श्री ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान पुरुषोत्तम प्रभो। कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय? कहाँ तक आपके गुणों का गान किया जाय?

हे लोकोत्तम, पुरुषोत्तम, सर्वोत्तम भगवान! जो प्राणी आपके नाम का स्मरण करते हैं, वे कभी दुखमय अवस्था को प्राप्त नहीं होते वरन् उनके समस्त दुख सदा के लिए दूर हो जाते हैं और उनके अनन्त सुख का खजाना उन्हें प्राप्त हो जाता है। प्रभो! यदि कोई व्यक्ति विजन और बीहड़ वन में पहुँच गया हो और वहां किसी मदोन्मत्त हाथी से उसका सामना हो जाय। हाथी भी सामान्य

न हो, बल्कि कपोलों पर झरते हुए मद की गन्ध के लोभ से आये हुए भौंरे उस पर मण्डरा रहे हों। भौंरे के झुण्ड के झुण्ड मण्डराने से वह खीझा हुआ हो—उसका क्रोध चरम सीमा को पहुँच चुका हो। विशाल डीलडोल वाला ऐरावत हाथी के समान हो। स्वभाव से ही उद्धत हो। ऐसा भयानक साक्षात काल के समान हाथी उसी मनुष्य की ओर भागता हुआ चला आ रहा हो और कदाचित् हमला करने पर उतारू हो। ऐसी स्थिति में वह पुरुष सच्चे हृदय से भक्ति और श्रद्धा के साथ यदि आपके नाम का जाप करे तो तत्काल आपका नाम रूपी मन्त्र फल प्रदान करता है। वह भीषण मतवाला हाथी पालतू जानवर के समान सीधा-सादा बन जाता है। अर्थात् उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता।

भाइयो! कितनी महान् शक्ति है परमात्मा के स्मरण में आजकल कई लोग इस बात पर शायद अविश्वास करें और कोई इस कथन में अतिशयोक्ति की कल्पना करे। मगर जो सच्चा भक्त है, जिसे परमात्मा के नाम की अकल्पनीय अलौकिक और अद्भुत शक्ति पर भरोसा है, वह कदापि अविश्वास नहीं करेगा। जो लोग आत्मा-परमात्मा के विचार से सर्वथा शून्य हैं, जिन्होंने भक्ति के क्षेत्र में एक भी कदम नहीं रक्खा है, उनके इस संबंध के विचार का या अविश्वास का कोई मूल्य नहीं हो सकता। चिरकाल के अनुभव के पश्चात ही मनुष्य किसी विषय का विशेषज्ञ बनता है और उसके बाद ही उसे उस विषय में अपनी सम्मति प्रकाशित करने का अधिकार प्राप्त होता। लौकिक विषयों में इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं और प्रायः इस नियम का पालन भी करते हैं। परन्तु जहाँ धर्म, आत्मा और परमात्मा की बात है, वहाँ इस नियम की बुरी तरह अवहेलना की जाती है। जिन्होंने धर्म के विषय में तनिक भी चिन्तन नहीं किया है, आत्मा की साधना नहीं की है,

परमात्मशक्ति को समझने का उद्यम नहीं किया है, वे लोग भी इनके विषय में निःसंकोच अपनी सम्मति प्रकट करने से नहीं हिचकते! यह एक प्रकार की धृष्टता है। परन्तु इसे रोकने वाला कौन है?

तो कोई कुछ भी कहे, यह निश्चित है कि भगवान् के नाम में अपूर्व शक्ति है और उस शक्ति का अनुमान नहीं, अनुभव ही किया जा सकता है। जिन अनन्तशक्तिमान् भगवान् नाभिनन्दन के नाम में भी ऐसी शक्ति है, उन भगवान् ऋषभदेव को ही हमारा बार-बार नमस्कार हो।

जंगली हाथी तिर्यंच योनि का एक जानवर है उसका शान्त हो जाना या पलायन कर जाना कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इस आत्मा के साथ अनादि काल से लगे हुए आठ कर्म रूपी अत्यन्त भयानक शत्रु भी भगवान् के नामस्मरण से नष्ट होते हैं। और आत्मा निष्कर्म एवं विशुद्ध होकर अपने शुद्ध चिदानन्दमय स्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

यह आत्मा कई चौरासियों से कर्म-करी के द्वारा कुचली और सताई जा रही है। किन्तु इसे अभी तक विजय प्राप्त नहीं हो सकी है। यही नहीं, कर्मों से आक्रान्त होकर यह आत्मा इतनी दुर्बल और शिथिल हो गई है कि कर्मशत्रुओं पर इसका जरा भी जोर नहीं चलता और वे इस आत्मा को निरन्तर दबोचते ही जाते हैं।

भला विचार तो करो इस आत्मा की शक्ति का! अरिहन्तों और सिद्धों में जैसी शक्ति है, वैसी ही प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है। आपकी आत्मा में भी उतनी ही शक्ति है। मगर आज वह कहाँ गायब हो रही है? कर्मों के उदय के कारण वह छिप गई है, जैसे सघन मेघों के कारण चन्द्रमा की ज्योत्स्ना आच्छादित हो जाती है।

ज्यों-ज्यों मेघों की सघनता कम होती जाती है, चन्द्रमा की ज्योति प्रकट होती जाती है। समस्त मेघों के हट जाने पर चन्द्रिका अपने असली स्वरूप में चमकने लगती है। इसी प्रकार जैसे-जैसे कर्मों का आवरण कम होता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा की शक्तियाँ प्रकट होती जाती हैं और जब कर्मावरण पूरी तरह हट जाता है तो शक्तियाँ पूर्णरूपेण विकसित हो जाती हैं।

इस स्पष्टीकरण से आप समझ सकेंगे कि आपकी आत्मा भी स्वभावतः परमात्मा है। इस आत्मा का अपमान करना उचित नहीं है। आप यह कह सकते हैं कि अपमान दूसरे का तो किया जाता है, मगर आप ही अपना अपमान कौन करता है? मगर यह बात नहीं है। आत्मा को कलुषित करने वाले, अधोगति में ले जाने वाले और निन्दित बनाने वाले कार्य करना ही आत्मा का अपमान करना है। जब आप समझ-बूझ कर कोई दुष्कृत्य करते हैं, तो आप अपनी आत्मा को नीचा दिखलाने वाला कार्य करते हैं। यह आत्मा का अपमान करना नहीं तो क्या है? अतएव अगर आप अपनी आत्मा का अपमान नहीं करना चाहते तो आपका यह कर्त्तव्य है कि आप ऐसा कोई कार्य न करें जिससे आत्मा को अधोगति में और नीच स्थिति में जाना पड़े।

दूसरा आपका अपमान करता है तो उसे आप सहन नहीं कर सकते और फौरन बदला लेने की सोचते हैं; क्योंकि उससे आपके अहंकार को ठेस लगती है; मगर आप स्वयं दुराचार करके आत्मा का घोर अपमान करते हैं। और आश्चर्य की बात तो यह है कि इस अपमान को आप बुरा नहीं मानते और करके प्रसन्न होते हैं! यह मनुष्य की नासमझी की पराकाष्ठा है।

'बीति ताहि बिसारिये, आगे की सुध लेय' इस कथन का अनुसरण करके कर्म-शत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं और आत्मा को

आजाद बनाना चाहते हैं तो अपने आपको बलवान्, निर्भीक और अजेय बनाइए।

आत्मा को बलवान् बनाने का क्या उपाय है ? इस प्रश्न का उत्तर है—तप और संयम का सेवन करना। भगवान् ने तपश्चरण में अपूर्व शक्ति बतलाई है। तप के प्रभाव से आत्मा में इतना बल आ जाता है कि मनुष्य तो क्या देवता भी वशीभूत हो जाते हैं। देवता भी तपस्वी के दास बनकर चरणों में नमस्कार करते हैं। मगर तपस्या के साथ संयम की आवश्यकता है। सयम हीन तप यथेष्ट लाभकारी नहीं होता।

संयम का अर्थ है-अपनी इन्द्रियों को काबू में करना और मन को भी वशीभूत बनाना। इन्द्रियों के द्वारा उनके विषयों का उपभोग किये बिना काम नहीं चलता। सुनाई देने वाले शब्दों को रोका नहीं जा सकता। आँखों के आगे आ जाने वाला रूप दिख ही जाता है। गंध का अनुभव न होने देने के लिए नाक को ढका नहीं रखा जा सकता इसी प्रकार रसेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय को भी रस एवं स्पर्श के ग्रहण से नहीं रोका जा सकता। जब इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं तो चित्त में राग द्वेष की उत्पत्ति होती है। मनोज्ञ शब्द सुनने को मिला तो रागभाव उत्पन्न होता है और अमनोज्ञ शब्द-निन्दा आदि सुनने में आए तो द्वेषभाव पैदा होता है। यही इन्द्रियों का असंयम है। इससे बचना संयम है। अभीष्ट शब्द रूप, गंध, रस और स्पर्श में राग न करना और अनिष्ट शब्दादि में द्वेष न करना, किन्तु समभाव धारण करना संयम कहलाता है। इस समभाव की साधना के साथ की जाने वाली तपस्या महान् फलप्रद होती है। इससे आत्मा में ऐसे लोकोत्तर बल का प्रादुर्भाव होता है कि उसकी कल्पना भी साधारण जन नहीं कर सकते।

तपस्या और संयम से बलिष्ठ बना हुआ आत्मा कर्म शत्रुओं को परास्त करने में समर्थ होता है और अपनी समस्त शक्तियों को प्रकट करके परमात्म स्वरूप बन जाता है।

भाईयो ! आप लोग शरीर को सबल बनाने के लिए नाना प्रकार की औषधियों का सेवन करते हैं थोड़ी सी कमजोरी मालूम होते ही वैद्य के पास भागे जाते हैं। उसे पैसे देते हैं और दवा खरीदते हैं। यद्यपि आपको भलीभांति विदित है कि शरीर का स्वभाव क्षीण होने का है और लाख प्रयत्न करने पर भी वह क्षीण हुए बिना नहीं रहेगा। ज्यों-ज्यों उम्र ढलती है, शरीर दुर्बल होता है। फिर भी आप उसकी सबलता के लिए चिन्तित रहते हैं और यथा संभव उपाय भी करते हैं। परन्तु जो आत्मा सदैव रहने वाला है, उसका बल बढाने की कितनी चिन्ता करते हैं ? आत्मा शरीर के समान विनाशशील नहीं है। उसका बल बढ़ाने के लिए पैसा खर्च करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन भावना को मोड़ने की आवश्यकता है। विषम भाव को त्याग कर समभाव रूप परिणति को बढाने से ही आत्मा के बल की वृद्धि हो सकती है। यह औषध आपके ही अधीन है। इसके लिए किसी की गुलामी करने की आवश्यकता नहीं है। दवा बतलाने वाले वैद्य, बिना फीस लिये बतला रहे हैं। फिर भी अगर आप इसका सेवन नहीं करेंगे और आत्मा को निर्बल बनाने के ही काम करते रहेंगे तो आप अपने ही अहित के कारण बनेंगे।

आप सोचते होंगे कि तपश्चरण और व्रत का सेवन करने से आपके दुनियादारी के काम रुक जाएँगे। मगर ऐसा समझना उचित नहीं है। संसार के कार्यों को विवेक के साथ करते हुए भी व्रत और तप की आराधना की जा सकती है। ऐसा न होता तो भगवान् गृहस्थ धर्म का विधान ही क्यों करते ? भगवान ने प्रत्येक को साधु बन जाने की अनिवार्यता प्रतिपादित नहीं की है। भगवान के समय में भी हजारों

श्रावक थे। वे अपने सांसारिक कार्य करते हुए भी गृहस्थ धर्म की आराधना करते थे। आप ऐसा कर सकते हैं। गृहस्थधर्म संसार के किसी भी नीतियुक्त एवं उचित कार्य का विरोध नहीं करता। अतएव आपको इस संबंध में खूब गहराई से सोचना और प्राप्त अवसर का लाभ उठाते हुए आत्मा के कल्याण की ओर पूरा ध्यान देना चाहिए।

श्री ठाणांगसूत्र में अनेक चौभंगियाँ वर्णित की गई हैं। उनमें से एक चौभंगी में भगवान् फर्माते हैं कि संसार के समस्त जीव समान नहीं हैं। कर्मोदय की विभिन्नता के कारण उनकी कृतियाँ और प्रकृतियाँ नाना प्रकार की होती हैं। धर्मक्रिया और प्रेरणा की दृष्टि से संसार में चार प्रकार के पुरुष हैं। यथा —

प्रथम श्रेणी में ऐसे पुरुषों का समावेश होता है जो स्वयं भी धर्म का आचरण करते हैं और साथ ही दूसरों को भी धर्माचरण की प्रेरणा करते हैं।

दूसरी श्रेणी उनकी है जो स्वयं तो कोई धार्मिक कार्य करते हैं, परन्तु दूसरे यदि उस विषय में प्रश्न करते हैं तो टालमटूल कर जाते हैं, अर्थात् कुछ स्पष्ट उत्तर नहीं देते! जैसे उनके बाल-बच्चे प्रश्न करें कि—पिताजी, आज आपने व्याख्यान में क्या सुना? या सामायिक में क्या चिन्तन किया? तो वे बच्चों की बात सुनी-अनसुनी कर देते हैं या साफ कुछ भी नहीं बतलाते हैं यह इसी श्रेणी के पुरुष दूसरी श्रेणी में सम्मिलित हैं।

माता-पिता का कर्त्तव्य तो यह है कि वे अपने बच्चों के प्रश्नों का उत्तर प्रेम से और साफ-साफ दें उनके प्रश्नों में रुचि प्रदर्शित

दें। बच्चों के मस्तिष्क पर धार्मिक संस्कारों की गहरी छाप डाल दें, ताकि वे उन्हीं संस्कारों से प्रेरित एवं प्रभावित होकर अपने भविष्यत जीवन को धर्ममय और उन्नत बना सकें। मगर माता-पिता अक्सर अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते। फल यह होता है कि लड़के बड़े होकर जब धर्म विमुख हो जाते हैं और स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने लगते हैं, तब उन्हें दुःख होता है, शिकायत होती है और असन्तोष पैदा होता है।

कई लोग कहा करते हैं—महाराज! हम तो समझाते-समझाते परेशान हो गए, मगर पाश्चात्य शिक्षा में रंगे हुए ये बच्चे हमारी एक नहीं सुनते।

इस प्रकार का रोना रोने वालों से मेरा यही कहना है कि घड़े में बंधी हुई रस्सी पत्थर की शिला पर बार-बार रगड़ती है; तो रस्सी कोमल होने पर भी कठोर पाषाण को घिस देती है। उसमें गहरी दरार पैदा कर देती है। फिर क्या कारण है कि आपका उपदेश बच्चों के चित्त पर असर नहीं डाल पाता? अगर कोई असर पैदा नहीं होता तो कभी आपने अपनी दुर्बलता पर विचार किया है? कभी सोचा है कि इसका कारण स्वयं मैं ही तो नहीं हूँ? अगर आप अपने सम्बन्ध में विचार करें और दुर्बलता दिखाई देने पर उसे दूर कर दें तो मेरा ख्याल है कि आपका उपदेश अवश्य प्रभावोत्पादक होगा और एक दिन ऐसा आएगा कि आप उन्हीं बच्चों को धार्मिक क्षेत्र में आगे देखेंगे।

तीसरे प्रकार के पुरुष वे हैं जो स्वयं तो किसी धार्मिक क्रिया को करते नहीं है, किन्तु दूसरों को करने की प्रेरणा करते हैं। जैसे दूसरे को सामायिक, उपवास, पौषध, व्याख्यान श्रवण आदि धार्मिक

क्रियाएँ कर नहीं सकते, किन्तु दूसरे व्यक्तियों से आग्रह करते हैं—उपवास करो, सामायिक करो, व्याख्यान श्रवण करो इत्यादि।

ऐसे लोग अपना कितना नुकसान करते हैं? अपने भविष्य को किस प्रकार अंधकारमय बनाते हैं, यह उन्हें नहीं मालूम। हां दलाली करने का लाभ उन्हें अवश्य मिलता है। मगर दलाली दलाली है और करणी करणी है। व्यापारी व्यापार करता है और दलाल दलाली करता है। परन्तु क्या दलाल व्यापारी के बराबर लाभ उठा सकता है? कदापि नहीं। जो स्वयं क्रिया करेगा, वह स्वयं ही उसका फल चखेगा। दलाली का फल तो दलाली जितना ही मिलेगा। अतएव उचित यह है कि जिसे हम शुकृत्य समझते हैं जिसे सुफलदायक मानते हैं और जिस क्रिया को करने से आत्मा का कल्याण होता है। उसका स्वयं आचरण करें और साथ ही दूसरों को भी करने के लिए प्रेरित करें।

जो स्वयं धर्म की आराधना नहीं करता, उसकी प्रेरणा भी प्रभावजनक नहीं होती। उसकी बात पर दूसरों को विश्वास नहीं होता। कई लोग तो स्पष्ट कह भी देते हैं—आप गुरुजी कांदा खावे दूजा ने उपदेश सुनावे। अतएव जो धर्म-पुण्य का कार्य आप स्वयं करके दूसरों से करने के लिए कहेंगे तो उसका प्रभाव पड़ेगा, अन्यथा नहीं।

चतुर्थ श्रेणी में उन संसारी जीवों का समावेश है जो स्वयं किसी धार्मिक कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकते, साथ ही जो दूसरे धर्म मार्ग पर चल रहे हैं और अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं, उन्हें
लित करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोग स्वयं कर्त्तव्य से
हैं और दूसरों को भी अपना साथी बनाते हैं। स्वयं

नरक में जाने की तैयारी कर रहे होते हैं और दूसरों को भी धकेलने को तत्पर रहते हैं। जैसे एक भेड़ कई भेड़ों को लेकर कुए में पड़ती है, इसी प्रकार एक पापी कई प्राणियों को पाप के गहरे गर्त में डाल देता है।

ऐ चेतन! तू मन में ऐसी तुच्छ भावना रख कर क्यों प्रवृत्ति करता है। यदि तुझे नरक के घोर दुःख-कुण्ड में पड़ कर जलना ही है तो तू अकेला ही उसमें कूद। क्यों दूसरों को भी इस ज्वाला में पटकता है?

भगवान् का जगत के प्राणियों को यही उपदेश है कि जो कुछ भी धर्म-क्रिया करो, सच्चे हृदय से, शुद्ध भावना से करो। सद्-भावना से प्रेरित क्रिया का फल आत्मोन्नति है, जब कि अशुद्ध भावनामय क्रिया का फल आत्म-पतन।

भगवान् ने दान, शील, तप और भावना के भेद से चार प्रकार का धर्म बतलाया है, किन्तु भावना धर्म का महत्त्व बहुत व्यापक है। वह दान शील और तप में भी व्याप्त रहता है। प्रशस्त भावना के साथ किया हुआ दान आदि ही समीचीन फल प्रदान करता है। कहा है—

यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।

जिसकी भावना जैसी होगी, उसे वैसी ही सफलता प्राप्त होगी। अतएव भावना विशुद्ध रखना श्रेयस्कर है।

श्रीकृष्ण महाराज ने एक बार अपने दो श्रेष्ठ राजकुमारों को परीक्षार्थ बुलाया। दोनों राजकुमार श्रीकृष्ण महाराज के सन्मुख उपस्थित हुए तो उन्होंने कहा जो एक सर्वज्ञ भगवान् नेमिनाथ

को वन्दन करेगा उसे सबसे बढ़िया घोड़ा सवारी के लिए इनाम में दिया जाएगा।

बड़े राजकुमार ने जल्दी से जल्दी भगवान् के निकट पहुँचने और घोड़ा प्राप्त करने का विचार किया। अतएव प्रातःकाल होने से पहले ही वह रवाना हो गया और वन्दन करके लौट आया।

दूसरे राजकुमार की नींद उड़ी तो उसने वहीं द्रव्य से और भाव से शुद्धि करके अत्यन्त भक्ति के साथ वन्दना की।

प्रातःकाल श्रीकृष्णजी दोनों राजकुमारों के साथ भगवान् के दर्शनार्थ तथा यह जानने के लिए कि किसने पहले वन्दना की है, भगवान् के पास पहुँचे। भगवान को यथोचित विधि से वन्दना, नमस्कार करके कृष्णजी ने प्रश्न किया, प्रभो! इन दोनों राजकुमारों में से किसने पहले वन्दना की है? और किसकी वन्दना उत्कृष्ट रही है? इनमें से कौन घोड़ा पाने का अधिकारी है?

भगवान् ने फर्माया--छोटे राजकुमार ने पहले वन्दना की है। उसकी भावना उत्कृष्ट थी, अतएव वन्दना भी उत्कृष्ट रही।

विचारणीय है कि बड़ा राजकुमार भगवान् के पास तक गया था और छोटे ने अपने महल में ही वन्दना की थी, फिर भी छोटे राजकुमार की वन्दना उत्तम रही इसका प्रधान कारण यही है कि उसने विशुद्ध भावना से वन्दना की; जब कि बड़े राजकुमार की भावना में घोड़ा प्राप्त करने की मुख्यता थी।

देखो मेघरथ राजा की भावना कितनी ऊँची थी। एक कबूतर की प्राणरक्षा की खातिर उन्होंने अपने सम्पूर्ण शरीर को समर्पित कर

किया। यह मायामय कबूतर था वास्तविक नहीं। देवों ने उनकी धर्म निष्ठा की परीक्षा करने के निमित्त ही वह आयोजन किया था। मगर महाराज मेघरथ तो सच्चे दयालु थे। उनके हृदय में दया की गहरी और उत्कृष्ट भावना उदित हुई थी। अतएव कबूतर जैसे तुच्छ पक्षी की रक्षा के लिए भी अपना सम्पूर्ण शरीर समर्पित कर दिया। रानियाँ उस हृदय द्रावक काण्ड को देख कर विलख उठी। राज परिवार के समस्त जन हाय-हाय करके मना करने लगे। अमात्य गण राजा को राजनीति का स्मरण कराने लगे कि "आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्।" महाराज! अपने प्राणों की रक्षा सर्वोपरि है। एक ओर प्राण हैं और दूसरी ओर समग्र पृथ्वी है। तो भी पृथ्वी का परित्याग करके प्राणों की रक्षा करना चाहिए। मगर आप तो एक कबूतर के लिए प्राण त्याग रहे हैं।

मगर राजा मेघरथ ने धर्मनीति के समक्ष राजनीति को कोई महत्व नहीं प्रदान किया। उनके हृदय में दया की जो उत्ताल तरंगें उठ रही थीं, उन्होंने कबूतर की रक्षा की ही प्रेरणा की। इस महान् आत्मोत्सर्ग का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया और आगे चल कर वे हमारे पूज्य शान्तिनाथ तीर्थंकर बने।

भाइयो! यह भावना धर्म का जीवन है, प्राण है। यदि भावना उत्तम है तो क्रिया का फल भी उत्तम होता है यदि भावना में मलीनता है तो उत्तम से उत्तम क्रिया भी उत्तम फल नहीं दे सकती। भरत चक्रवर्ती का चरित आपने सुना होगा। उन्होंने इस जीवन में कौनसी क्रिया की थी? वे गृह और राज्य त्याग कर जंगल में नहीं गये थे। उन्होंने अनशन आदि कोई तपश्चर्या नहीं की थी। फिर भी वे केवल ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो गये। उनको केवल ज्ञान की

प्राप्ति किस कारण से हुई ? भावना की निर्मलता से। वे ऐसे महा-पुरूष थे कि षट्खंड भरत क्षेत्र के अद्वितीय अधिपति होकर भी और चौसठ सहस्त्र रमणियों के हृदयवल्लभ होने पर भी भावना से राज्य और योगों में लिप्त नहीं थे। उनका अन्तःकरण विषय-विलास में रंगा हुआ नहीं था। वे बाहर से महा परिग्रही और महारंभी दीखते हुए भी जल में कमल की भाँति पृथक् रहते थे। यही कारण है कि उनका विशालतम राज्य और विशालतम अन्तःपुर भी उनके आध्यात्मिक विकास को रोकने में समर्थ नहीं हो सका। यही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। सम्यग्दृष्टि जीव अन्तस से विषयों में गृद्ध नहीं होता। कहा है—

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तस न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल॥

धाय बालक को दूध पिलाती है और रमाती है; फिर भी भीतर ही भीतर समझती है कि यह बालक मेरा नहीं, पराया है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव धन-जन आदि की रक्षा करता है और उसका उपयोग भी करता है; तथापि अन्तस में जानता है कि-यह सब परपदार्थ हैं। यह आत्ममूल नहीं है ऐसा समझ कर वह उनमें गृद्ध नहीं बनता अनासक्त रहता है इस अनासक्ति के कारण उसे चिकने कर्मों का बंध नहीं होता, ऐसे जीवों का उद्धार हो जाना कठिन नहीं है। थोड़ा-सा निमित्त मिलते ही उनके जीवन की दिशा एकदम बदल जाती है और वे सरलता के साथ अपना कल्याण कर लेते हैं।

आध्यात्मिक साधन में भावना का क्या स्थान है, यह बात भरत चक्रवर्ती के उदाहरण से आपको मालूम हो सकती है इसे अधिक स्पष्ट समझना हो तो प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के चरित को स्मरण करो। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को सदैव अपनी भावना शुभ रखना चाहिए। अगर आप भावना को पवित्र रक्खेंगे तो आपका शीघ्र ही परम कल्याण होगा।

ब्यावर
२१-८-४१ }

सतत सतर्क रहो !

卐

बुद्धया विनाऽपि विबुधार्चित पादपीठ ।
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ॥
बालं विहाय जलसंस्थित मिन्दु बिम्ब—
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥

भगवान् श्री ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान् , पुरुषोत्तम प्रभो! कहां तक आपकी स्तुति की जाय ? कहां तक आपके गुणों का गान किया जाय ?

हे जगद्गुरु, लोकोत्तम, पुरुषोत्तम, सर्वोत्तम भगवन् ! हम जैसे साधारण मानवों की तो बात ही क्या है, देवगण भी आपके पादपीठ की पूजा-अर्चना करते हैं। इन्द्र भी जिसके पादपीठ की पूजा करते हों, उसके माहात्म्य का वर्णन कौन कर सकता है ? बड़े से बड़े वाग्मी के लिए भी उसके गुणों का कीर्त्तन करना सम्भव नहीं है। फिर भी मैं आपकी स्तुति करने को उद्यत हो गया हूँ। विशिष्ट

बुद्धि होती तो थोड़ी-बहुत स्तुति कर भी पाता, मगर मैं तो बुद्धिहीन हूँ। मुझ में प्रतिभा का वैभव नहीं है। ऐसी स्थिति में स्तुति के लिए उद्यत हो जाना निरा बचपन ही है। यह मेरी निर्लज्जता ही है कि मैं अपने उपहास का विचार न करके, अपनी निश्चित असफलता को जानते हुए भी स्तोता बनने का साहस कर रहा हूँ।

आकाश में चन्द्रमा उदित होता है तो पृथ्वीतल पर जल से परिपूर्ण पात्र में उसका प्रतिबिम्ब भी पड़ता है। अबोध शिशु जल में पड़ने वाले उस प्रतिबिम्ब को चन्द्रमा समझता है और उस चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने की चेष्टा करता है। समझदार बड़े बूढ़े उसकी विफल चेष्टा को देख कर हँसते हैं। मगर शिशु उनके उपहास की परवाह नहीं करता और चन्द्रमा को पकड़ने के लिए बार-बार प्रयत्न करता है। वही स्थिति मेरी है। भगवान् ऋषभदेव में अनन्त गुण हैं। उनमें से प्रत्येक गुण असीम है। अतएव निश्चित है कि उनके एक गुण की भी पूरी स्तुति नहीं की जा सकती। फिर अनन्त गुणों की स्तुति का होना तो सम्भव ही कैसे हो सकता है? मेरी इस चेष्टा को विद्वान् जन उपहास की दृष्टि से देखेंगे। मगर मुझे चिन्ता नहीं है। मैं तो भगवान् की स्तुति करूँगा ही। जिसे निर्लज्ज समझना हो, मुझे निर्लज्ज समझ ले। मैं दूसरों की समझ पर नहीं चलूँगा, अपने अन्तःकरण की प्रेरणा का अनुसरण करूँगा।

भाइयो! आचार्य महाराज ने अपनी न्यूनता प्रकट करते हुए किसने सुन्दर ढंग से भगवान् की महिमा प्रकट की है! तो जिन भगवान् ऋषभदेव की ऐसी अपूर्व महिमा है, उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

श्रीमद् स्थानांगसूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के श्रावक बतलाए हैं। यथा—

१. कोई-कोई अश्व युक्त भी होता है और शोभनीक भी होता है।

२. कोई-कोई युक्त होता है पर शोभनीक नहीं।

३. कोई-कोई शोभनीक होता है, युक्त नहीं।

४. कोई-कोई युक्त भी नहीं होता और शोभनीक भी नहीं होता।

इसी तरह जगत् में चार प्रकार के पुरुष होते हैं। कई पुरुष युक्त भी होते हैं और शोभनीक भी। युक्त का अर्थ है—अन्तर में सद्‌गुणों से सुशोभित और शोभनीक का मतलब है बाहरी डीलडौल से, शरीर से तथा आभूषणों से सुशोभित।

तो किसी-किसी में आन्तरिक सौन्दर्य भी होता है और बाह्य सौन्दर्य भी होता है।

कोई आन्तरिक सौन्दर्य से अर्थात् सद्‌गुणों से तो सम्पन्न होते हैं किन्तु बाह्य सौन्दर्य से सम्पन्न नहीं होते।

कोई इनसे विपरीत ऊपर से तो बहुत सुन्दर दिखाई देते हैं, परन्तु भीतर से सुन्दर नहीं होते, अर्थात सद्‌गुणों से हीन होते हैं।

कोई-कोई पुरुष ऐसे भी हैं जो दोनों तरह से सुन्दर नहीं होते। उनमें न धार्मिकता आदि सद्‌गुण ही होते हैं और न बाह्य सौन्दर्य ही होता है।

एक बार किसी अंगरेज ने एक हिन्दुस्तानी से कहा—तुम हो तो अत्यन्त बुद्धिमान्, परन्तु देखने में सुन्दर नहीं हो। तब उस हिन्दुस्तानी ने उत्तर दिया—संसार में दो वस्तुएं हैं—खूबसूरती और बुद्धिमत्ता। खूबसूरती आपको मिली है और बुद्धिमत्ता मुझे।

जमात को ढूँढते ढूँढते बहुत दिन हो गए, किन्तु महन्त की गद्दी को दिपाने योग्य कोई प्रभावशाली आदमी नहीं मिला।

एक बार जमात एक गाँव से दूसरे गांव जा रही थी कि जंगल में एक हृष्टपुष्ट और शोभनीक गढरिया भेड़-बकरियाँ चराता हुआ मिल गया। सबने सोचा-यह पुरूष महन्त को गद्दी पर बिठलाने योग्य शारीरिक वैभव से सम्पन्न है। सब ने उसे बुलाया और कहा—तुम हमारे साथ चलो। हम तुम्हें अच्छा खिलाएँगे और आराम से रक्खेंगे

गड़रिया ने उनका कहना मान लिया और वह जमात के साथ हो लिया साधुओं ने उसे लंगोटी पहना दी और हाथ में माला पकड़ा दी। उसे महन्त घोषित कर दिया।

महन्त घोषित करने के पश्चात् उसे अच्छी तरह समझा दिया कि देखो, कोई तुम्हारे पास आवे तो उससे बात मत करना। आँखें बंद किये माला जपते रहना।

चलते-चलते जमात एक शहर में पहुँची और बाहर बगीचे में ठहर गई। राजा, राजकर्मचारी तथा नगरनिवासी नर-नारी दर्शनार्थ आने लगे। जमात के साधु उनको उपदेश दिया करते थे।

एक दिन राजा ने कहा-सब का उपदेश सुन लिया, पर महन्त जी महाराज का उपदेश अभी तक नहीं सुना। अतएव अधिक न सही, कुछ शब्द तो महाराज भी फर्मावें। मगर जमात के साधु किसी प्रकार टालटूल कर दिया करते थे।

एक दिन खूब सभा भरी हुई थी। साधु का उपदेश हो चुका था, तभी राजा ने आग्रह किया-आज तो महन्तजी के मुखारविन्द से

भी कुछ सुनने को मिलना चाहिये। महाराज, कृपा कीजिये। कुछ तो कहिए।

राजा का आग्रह देखकर महन्तजी से न रह गया और वे बोल उठे 'तर-तक' :

लोग हँस पड़े। काम बिगड़ता देख कर जमात का एक पण्डित उठा और बोला-भाइयो! महन्तजी महाराज प्रायः बोलते नहीं हैं। आज आप सब का परम सौभाग्य है कि महाराज ने दो शब्द उच्चारण किये हैं। संभव है, आप इन शब्दों का अर्थ न समझे हों, क्योंकि यह शब्द अत्यन्त गूढ़ हैं। वास्तव में नाना शास्त्रों में जो उपदेश का विस्तार है, उस सब का समावेश इन दो शब्दों में हो जाता है। मैं इन शब्दों का अर्थ आपको अपनी बुद्धि के अनुसार समझाने का प्रयत्न करता हूँ। देखिए 'तर' का अर्थ है—इस भव-सागर से तीर जाओ और 'तक' का अर्थ है—अवसर। अर्थात् भवसागर को पार करने का यही अनुकूल अवसर है।

यह स्पष्टीकरण सुनकर सब श्रोता प्रसन्न हो गये और 'धन्य-धन्य' का उद्घोष करने लगे।

जमात के पण्डितों ने सोचा-आज तो किसी प्रकार पोल खुलते खुलते बच गई, मगर आगे बचाना कठिन हो जायेगा। गुदड़ी में ढँका लाल जब तक बन्द मुख रहता है तो कभी भी खुल सकता है। अतएव यहाँ से 'अन्यत्र' पर जाने में ही कुशल है।

यह सोच कर दूसरे दिन प्रभात में ही जमात वहाँ से चल दी।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य कितना ही [illegible] क्यों न हो, [illegible] यदि गुण नहीं है तो [illegible] था। [illegible] के [illegible] [illegible] महाराज [illegible]

के खींवसरा गोत्रीय थे। बारह वर्ष तक तो उन्हें दीक्षा अंगीकार करने की इजाजत ही नहीं मिली। मगर उनके देदीप्यमान एवं प्रभावशाली रूप की महत्ता उनके दिव्य गुणों के कारण थी। वह महान गुणवान् थे।

एक बार श्री देवीलालजी महाराज दृष्टि जमाकर उन्हें देखने लगे तो पूज्य श्री ने कहा—मुझे क्या देख रहे हो?

श्री देवीलालजी म० बोले-मैं यह देख रहा हूँ कि सुधर्मा स्वामी की कैसी चमक-दमक थी?

गच्छ का स्वामी भी हो और शोभनीक भी हो तो उसका दूसरों पर अपूर्व प्रभाव पड़ता है। उसे देख कर और उसकी वाणी सुन कर मिथ्यात्वी भी सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं।

अनाथी मुनि वन में तपस्या कर रहे थे। अचानक राजा श्रेणिक की दृष्टि उन पर पड़ गई। मुनि के शरीर से अद्भुत दीप्ति निकल रही थी। उनका आकार तथा रूप बड़ा ही मनोहर था। वर्णन आता है कि राजा श्रेणिक स्वयं अत्यन्त सुन्दर रूप का धनी था। मगर जब श्रेणिक ने अनाथी मुनि को देखा तो वह भी उस असाधारण रूप राशि को देख कर विस्मित रह गया! सहसा उसके मुख से निकल पड़ा:—

अहो वण्णो अहो रूपं, अहो अज्जस्स सोमया।
अहो खंती अहो मुत्ती, अहो भोगे असंगया॥

अर्थात्-आर्य का वर्ण अद्भुत है; रूप अद्भुत है; सौम्य भाव अद्भुत है। आर्य की क्षमा, निस्पृहता और अनासक्ति धन्य है।

जो स्वयं अत्यन्त सुन्दर है, वह जब मुनि के वर्ण, रूप आदि को देखकर इस प्रकार प्रभावित हो गया तो कल्पना की जा सकती है कि उसमें कितना सौन्दर्य रहा होगा। विशेषता यह है कि उक्त गाथा के पूर्वार्द्ध में बाह्य सौन्दर्य का उल्लेख किया गया है तो उत्तरार्द्ध में आन्तरिक सौन्दर्य का भी कथन कर दिया है। इस प्रकार अनाथी मुनि बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार से शोभनीक थे।

अनाथी मुनि को देख कर राजा श्रेणिक खड़ा रह गया और उनकी मुखमुद्रा निहारने लगा।

पुण्य के उदय से ही जीव शोभनीक तथा बुद्धि आदि गुणों से सम्पन्न होते हैं। जो जीव पूर्वजन्म में पुण्य उपार्जन करके आये हैं, उन्हीं को सारी अच्छाइयाँ मिलती हैं। पूर्वकृत पुण्य ही इस समय भाग्य बन कर काम करता है। वस्तुतः पूर्वकृत संस्कार ही भाग्य है। आप सत्य बोलें, चोरी न करें, दीन-दुखी को देख कर उनकी यथोचित सेवा-सहायता करें, किसी से छल-कपट न करें, यह सब वर्तमान में की जाने वाली क्रियाएँ ही भविष्य में आपका भाग्य बन जाएँगी। जैसे धान्य उत्पन्न करने के लिये जमीन जोतना, हल चलाना, सर्दी गर्मी सहना, बीज बोना, रखवाली करना आदि-आदि बातें करनी पड़ती हैं, इसी प्रकार पुण्य उपार्जन करने के लिये भी प्रयत्न करना पड़ता है। जैसे धतूरा वगैरह कई चीजें बिना मेहनत किये पैदा हो जाती हैं, उसी प्रकार झूठ चोरी आदि पाप करने में मेहनत नहीं करनी पड़ती।

याद रखो और सावधान रहो, दिन-रात, हर समय, तुम्हारे भाग्य का निर्माण हो रहा है। तुम्हारे मन वचन और काय की प्रत्येक क्रिया भाग्य निर्माण कर रही है। क्षण भर के लिये भी अगर शुभ परिणाम में रहते हो, अधर्म या पाप का सेवन करते हो तो उसके

भविष्य को अंधकारमय बनाते हो। यदि तुम्हारे चित्त में शुभ भावना रहती है तो पुण्य का संचय होता है। बोलते, हँसते, खाते, पीते, सोते, जागते, चुप रहते, अर्थात प्रत्येक क्रिया करते समय आपको कर्मबंध हो रहा है। ऐसा कोई क्षण व्यतीत नहीं होता, जिसमें अनन्तानन्त कर्म पुद्गल यह संसारी जीव ग्रहण न करता हो। अगर जीव की परिणति शुभ है तो कर्म भी शुभ बँधते हैं और परिणति अशुभ होती है तो कर्म भी अशुभ ही बँधते हैं।

जरा विचार करो भव्यजीवो! आपके जीवन का एक-एक क्षण कितना मूल्यवान् है। एक समय मात्र काल में जब अनन्त कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ बन्ध हो जाता है तो आपको कितना सावधान रहना चाहिए! अगर आपने अपनी मनोवृति थोड़ी देर के लिये भी बिगड़ने दी तो आप बहुत से पाप कर्मों को बाँध लेंगे और वे पापकर्म आपको दुःख देंगे।

सब से अधिक सावधानी मन के विषय में रखनी है। यह मन अत्यन्त चपल है। समुद्र की लहरों का पार है, पर मन की लहरों का पार नहीं है। इसमें एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी लहर उत्पन्न होती ही रहती है। इन लहरों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। शास्त्र में यह मनोवृत्तियाँ चार भागों में विभक्त की गई हैं, जिन्हें आप चार ध्यानों के नाम से जानते हैं—(१) आर्त्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान (४) शुक्लध्यान।

इष्ट पदार्थों के संयोग के लिए, अनिष्ट वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग के लिए, बीमारी आदि होने पर उससे छुटकारा पाने के लिए तथा भविष्यत्कालीन विषयभोगों की प्राप्ति के लिए जीव की जो चिन्तनधारा चलती है, वह आर्त्तध्यान में गिनी जाती है।

हिंसा करने, असत्य भाषण करने, चोरी करने और इन्द्रियों के विषयों का संरक्षण करने के लिए उत्पन्न होने वाला विचार रौद्र-ध्यान कहलाता है।

तो ऐसे लोगों को ही वास्तविक आनन्द के खजाने की चाबी हाथ लगी है।

रे चित्त! जरा चंचलता तज,
क्यों विषय-वासना में डोले।

न कुछ हाथ आता है, न जाता है, किन्तु यह जीव विचार ही विचार में भारी और चिकने कर्मों को बाँध लेता है। विचार के अनुसार कार्य न कर सकने पर भी केवल विचार मात्र से किस प्रकार कर्मबन्धन होता है और किस प्रकार दुर्गति के दुःखों का पात्र बनना पड़ता है, यह समझना हो तो तन्दुल मत्स्य का विचार कर देखो। छोटासा वह मत्स्य एक भी मछली को नहीं निगल पाता, किन्तु निगलने का विचार करता रहता है और अपने विचारों की कलुषता के कारण सातवें नरक का अतिथि बनता है।

हे भव्य जीवो! याद रखो, तुम्हारे विचारों का तुम्हारे भविष्य पर गहरा असर हो रहा है। अतएव अगर दुख से बचना और सुखी होना चाहते हो तो अपने विचारों को सदैव पवित्र रक्खो। कभी विचारों में अपवित्रता आ जाय तो फौरन उसे निकाल बाहर करो; उसके लिये पश्चाताप करो; प्रायश्चित करो; अपने मन को उपालंभ दो और अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ पुनः दुर्विचार न आने देने के लिये दृढ़ संकल्प करो। सच्चे हृदय से इस प्रकार करते रहने से धीरे-धीरे तुम्हारा मन अपवित्र विचारों से मुक्त हो जायेगा।

यह मन संसार में ही सुख मान रहा है, किन्तु हे मन! तू सांसारिक सुख और आत्मिक सुख को विवेक की तराजू में तोल और परीक्षा कर। तुझे पता चलेगा कि संसार का सुख कच्चा है, झूठा है,

आसन तैयार कर दिया। किसी सेवक के एक मित्र ने कहा—थोड़ी देर के लिए इस गद्दी पर मुझे मौज कर लेने दो। वह वहां लेट गया। उसी समय राजा वहां पहुँच गया। उसने अपना अपमान समझ कर आज्ञा दी-इसे यहीं से नीचे पटक दो!

किस में ताकत थी कि राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता? वह थोड़े से सुख के लिए मारा गया! इसी प्रकार क्षणिक विषय सुख के लिए संसारी जीव नरक के घोर दुःख सहन करते हैं, जिनकी कालिक अवधि भी बहुत लम्बी होती है।

भगवान अरिष्ट नेमि आत्मिक सुख और विषय जनित सुख के अन्तर को समझते थे, अतएव जब उनका जन्म हुआ तो देवेन्द्रों ने उनका जन्म महोत्सव मनाया और देवियों ने मंगल गीत गाये। महाराज समुद्र विजयजी ने आदेश देकर पुत्र जन्म के हर्ष में सब कैदियों को कारागार से मुक्त कर दिया। बारह दिन बाद सूतक सम्बन्धी शुचिता की गई। मित्र वर्ग को भोजन करवाया और जो जिस योग्य था, उसका उसीके अनुरूप स्वागत-सत्कार किया। उसी समय नवजात बालक का 'अरिष्टनेमि' नाम रक्खा गया। 'अरिष्ट नेमि' नाम का उल्लेख वेद में भी किया गया है।

ॐ रक्ष, रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा !

भगवान् के शरीर पर १००८ शुभ लक्षण सुशोभित थे। वह द्वितीया के चन्द्रमा के समान क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होने लगे।

एक बार वसन्त ऋतु का आवागमन होने पर राजा-रानी अपने पुत्र के साथ उपवन में गए। कोई किसी प्रकार और कोई किसी

राजा आदि को इस घटना का तनिक भी पता नहीं चला। वे उद्यान में क्रीड़ा करके यथा समय महल में चले गये।

भाइयो ! इस प्रकार का माहात्म्य पुण्य की प्रबलता से प्राप्त होता है। पुण्य की प्राप्ति शुभ भावना से होती है। अतएव आप भी अपनी भावना को पवित्र बनाइए और सुखी बनने का प्रयत्न कीजिए।

ब्यावर
२८-८-४१

भगवान् ने दो प्रकार का धर्म कहा है, यथा-'दुविहे धम्मे पण्णत्ते, अगारधम्मे चेव, अणगारधम्मे चेव।'

अर्थात अगारधर्म और अनगारधर्म के भेद से धर्म के दो भेद हैं। अगारधर्म का अर्थ है--गृहस्थ का धर्म और अनगार धर्म का अर्थ है—साधु धर्म।

वास्तव में प्राणातिपात, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप पापों से विरत होना विरति है और उसी को लक्ष्य करके यहां धर्म के दो भेद बतलाये गये हैं। गृहस्थ भी प्राणातिपात आदि पापों का परित्याग करता है और साधु भी, मगर दोनों का त्याग एक समान नहीं होता, क्योंकि दोनों की परिस्थितियों में महान् अन्तर होता है। साधु समस्त सांसारिक प्रपंचों से विमुक्त होते हैं। आरम्भ और परिग्रह के पूर्ण त्यागी होते हैं। अतएव वे अहिंसादि व्रतों का पूर्ण रूपेण पालन कर सकते हैं। मगर गृहस्थ का उत्तरदायित्व भिन्न प्रकार का होता है। उसे अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए कृषि, वाणिज्य, पशुपालन आदि आरंभ के कार्य करने पड़ते हैं। वह व्रतों का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकता।

इतना होने पर भी, गृहस्थ, धर्मपालन ही न कर सके, ऐसी बात नहीं है। वह यदि विवेकशील है और पाप से बचना चाहता है तो बहुत से पापों से बच सकता है। अहिंसा आदि व्रतों का आंशिक रूप से पालन करने पर भी उसके गार्हस्थिक कार्यों में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। यही नहीं, वरन् उसका जीवन चमक उठता है और वह गृहस्थ अन्य गृहस्थों के लिए अनुकरणीय बन जाता है।

इस प्रकार गृहस्थों पर अनुग्रह करके भगवान् ने उनके लिए देशविरति का विधान किया है।

भाइयो! मनुष्य जन्म मिला है तो इसे व्यर्थ मत गंवाओ। उत्तम तो यह है कि समस्त आरम्भ-परिग्रह का परित्याग करके अनगारधर्म का पालन करो। इतना नहीं कर सकते तो गृहस्थधर्म का तो अवश्य पालन करो। अगर किसी भी प्रकार के धर्म का पालन न करोगे तो आपमें और पशु में क्या अन्तर रह जायगा? मनुष्य की विशेषता तो धर्मपालन में ही है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च,
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो-
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

साधु महाव्रती होते हैं, गृहस्थ अणुव्रती। गृहस्थ के लिए भगवान् ने बारह व्रतों का विधान किया है, जिनमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं।

पाँच अणुव्रत-(१) अहिंसाणुव्रत—अर्थात एक देश से हिंसा का त्याग करना। निरपराध त्रस जीव की संकल्प पूर्वक हिंसा न करना।

(२) सत्याणुव्रत जानबूझ कर स्थूल झूठ न बोलना।

(३) अचौर्याणुव्रत-जिस वस्तु का जो स्वामी है, उसकी आज्ञा बिना वह वस्तु ग्रहण न करना गृहस्थ स्थूल चोरी का ही त्याग करता है, अर्थात् जिस अदत्तादान से राजकीय दंड मिलता है, जो लोक में चोरी के रूप में प्रसिद्ध है। जैसे ताला तोड़ना, जेब काटना, किसी के घर में सेंद लगाना आदि।

(४) परस्त्री त्याग— विधिपूर्वक विवाहिता स्त्री के सिवाय सब स्त्रियाँ पर स्त्री कहलाती हैं। उनको माता-बहिन के समान समझना।

(५) परिग्रहपरिमाण-अपरिमित लालसा और तज्जनित आकुलता एवं अशान्ति से बचने के लिए परिग्रह की मर्यादा कर लेना।

यह पाँच अणुव्रत गृहस्थ के मूल गुण हैं। इनकी भलीभाँति रक्षा करने के लिए तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का पालन करना आवश्यक है। तीन गुणव्रत हैं:-

(१) दिग्व्रत--पूर्व, पश्चिम आदि दशों दिशाओं में जाने की मर्यादा बाँध लेना। इस व्रत के पालन से बहुत से निरर्थक पाप से बचाव हो जाता है।

(२) उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत–भोग और उपभोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा करना। एवं पन्द्रह प्रकार के पापकारी व्यापार के त्याग करना।

प्रातः काल श्रावक गुरु के दर्शन करता है और जिनवाणी का श्रवण करता है। गुरु का योग न हो तो स्वयं स्वाध्याय करता और दूसरों को शास्त्र सुनाता है। जिस दिन जिनवाणी नहीं सुनता, वह दिन पशु के समान व्यतीत हुआ समझता है।

याद रक्खो, भोजन करते समय अवश्य शुद्ध भाव रखना चाहिए और सुपात्र दान की भावना रखना चाहिए। जिस दिन सुपात्र को दान देने का अवसर मिल जाय, वह दिन धन्य समझना चाहिए।

जो श्रावक उक्त व्रतों का पालन करेगा और जिसे पाप से भय होगा, वह मिथ्या लेख नहीं लिखेगा, झूठे दस्तावेज नहीं बताएगा, खाता बही में एक पाई का भी झूठा जमा खर्च नहीं करेगा। किसी भी स्थिति में झूठी साक्षी भी नहीं देगा। अच्छी वस्तु में घटिया चीज की मिलावट नहीं करेगा। तात्पर्य यह है कि उसका व्यापार, व्यवहार, वर्त्ताव-सभी कुछ प्रामाणिकता परिपूर्ण ही होगा। वह कभी और कहीं बेईमानी नहीं करेगा।

गृहस्थी में खान-पान सम्बन्धी बातों में भी वह पूर्ण विवेक से ही काम लेता है और ऐसा प्रयत्न करता है कि अधिक से अधिक हिंसा से बचाव हो सके।

श्रावक को हल्दी, धनिया, मिर्च आदि मसाला अधिक दिन का पिसा हुआ नहीं रखना चाहिए, क्योंकि उसमें जीव उत्पन्न हो जाने की आशंका रहती है। इसके अतिरिक्त अधिक दिनों के पिसे होने से उनके गुण भी नष्ट हो जाते हैं। वह उतने लाभदायक नहीं रह जाते। विवेकशील श्रावक या श्राविका अवश्य विचार करेगा कि जब अधिक दिन मसाला रखने से सभी प्रकार की हानि है तो उसे क्यों

प्रातः काल श्रावक गुरु के दर्शन करता है और जिनवाणी का श्रवण करता है। गुरु का योग न हो तो स्वयं स्वाध्याय करता और दूसरों को शास्त्र सुनाता है। जिस दिन जिनवाणी नहीं सुनता, वह दिन पशु के समान व्यतीत हुआ समझता है।

याद रक्खो, भोजन करते समय अवश्य शुद्ध भाव रखना चाहिए और सुपात्र दान की भावना रखना चाहिए। जिस दिन सुपात्र को दान देने का अवसर मिल जाय, वह दिन धन्य समझना चाहिए।

जो श्रावक उक्त व्रतों का पालन करेगा और जिसे पाप से भय होगा, वह मिथ्या लेख नहीं लिखेगा, झूठे दस्तावेज नहीं बताएगा, खाता बही में एक पाई का भी झूठा जमा खर्च नहीं करेगा। किसी भी स्थिति में झूठी साक्षी भी नहीं देगा। अच्छी वस्तु में घटिया चीज की मिलावट नहीं करेगा। तात्पर्य यह है कि उसका व्यापार, व्यवहार, वर्त्ताव-सभी कुछ प्रामाणिकता परिपूर्ण ही होगा। वह कभी और कहीं बेईमानी नहीं करेगा।

गृहस्थी में खान-पान सम्बन्धी बातों में भी वह पूर्ण विवेक से ही काम लेता है और ऐसा प्रयत्न करता है कि अधिक से अधिक हिंसा से बचाव हो सके।

श्रावक को हल्दी, धनिया, मिर्च आदि मसाला अधिक दिन का पिसा हुआ नहीं रखना चाहिए, क्योंकि उसमें जीव उत्पन्न हो जाने की आशंका रहती है। इसके अतिरिक्त अधिक दिनों के पिसे होने से उनके गुण भी नष्ट हो जाते हैं। वह उतने लाभदायक नहीं रह जाते। विवेकशील श्रावक या श्राविका अवश्य विचार करेगा कि जब अधिक दिन मसाला रखने से सभी प्रकार की हानि है तो उसे क्यों

रक्खा जाय ? क्यों नहीं इस हिंसा से बचा जाय ? कृषक लोग हमेशा मसाला पीसते हैं और ताजा खाते हैं, जिससे उनकी तन्दुरुस्ती काफी अच्छी रहती है। पर नागरिक लोगों को प्रायः हमेशा पाचक चूर्ण की जरुरत पड़ती है।

प्रायः बहिनों को रोज-रोज मसाला पीस कर काम में लाने में अड़चन मालूम होती है, इस कारण ये एक साथ ढेर पीस लेती हैं, फिर भले ही उसमें जीव जन्तु पैदा हो जाए और हिंसा का पाप लगे। किन्तु श्राविकाओं के लिए इस प्रकार का प्रमाद शोभा नहीं देता। उन्हें यतना करनी चाहिए और पाप से बचने का उपाय करना चाहिए।

जो बात मसालों के विषय में है, वही आटा, दाल, आचार आदि के विषय में भी समझना चाहिए।

कई बहिनें लकड़ी-छाना आदि ईंधन विना देखेभाले चूल्हे में लगा देती है। ऐसा करने से कभी कभी त्रस जीवों की घोर हिंसा होती है। लकड़ियों के भीतर और लकड़ियों के आश्रित रहे हुए जीवों की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि बिना भलीभांति देखे-भाले उनका उपयोग न किया जाय। छानों (कण्डों) में तो जीवों के रहने की और भी अधिक सम्भावना रहती है। श्राविकाओं को इस ओर खूब ध्यान रखना चाहिए।

आज कल बिना छना पानी पीने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। किन्तु कितने खेद की बात है कि जो परम्परा सभी दृष्टियों से उपयोगी और हितकर है और जिससे हानि की कोई सम्भावना ही नहीं की जा सकती, जिसकी सराहना समझदार जैनेतर लोग भी करते हैं, उस उत्तम परम्परा को भी जैन लोग उपेक्षा की दृष्टि

देखने लगे हैं। जैन शास्त्रों के अतिरिक्त मनु आदि वैदिक धर्म के ऋषि भी बिना छना पानी पीने का निषेध करते हैं। अतएव बिना छना पानी कदापि मत पीओ। बाहर जब सफर पर जाते हो तो दुनिया भर का सामान बांध कर ले जाते हो, किन्तु एक छोटा-सा छन्ना साथ लेते बोझ मालूम होता है। यह सब धर्म के प्रति उपेक्षा का परिणाम है।

बड़, गूलर, पीपल, कठूमर आदि के फलों में बिल-बिलाते हुए असंख्य जीव होते हैं। श्रावक ऐसे फलों का भूल कर भी उपयोग नहीं करेगा।

गृहस्थ के धर्म का पालन करने के लिए इन सब बातों का ध्यान रखना अत्यावश्यक है। इनके अतिरिक्त श्रावक को दुर्व्यसनों से भी बचना चाहिए। मूल दुर्व्यसन सात हैं:—

जुआ खेलना मांस मद, वेश्या व्यसन शिकार।
चोरी पररमणीरमण, सातों व्यसन विचार॥

(१) जुआ खेलना (२) मांस भक्षण करना (३) मद्यपान करना (४) वेश्यागमन करना (५) शिकार खेलना (६) चोरी करना और (७) पर स्त्री गमन करना। यह सात अत्यन्त ही हानिकारक और जीवन को बर्बाद करने वाले व्यसन हैं। इनका त्याग किये बिना आत्मा में धर्म का परिणमन नहीं होता, कदाचित् परिणमन हो जाय तो टिक नहीं सकता। इन दुर्व्यसनों के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि संसार के सभी सभ्य पुरुष और सभी धर्म और सम्प्रदाय इनकी निन्दा करते हैं। जो अभागे लोग इनमें से किसी भी व्यसन के शिकार हैं, उनसे पूछो तो वे भी उसकी निन्दा ही करेंगे। प्रशंसा तो कोई कर ही नहीं सकता।

इन दुर्व्यसनों की एक बड़ी बुराई तो यह है कि एक बार जो इनके चक्कर में पड़ जाता है, वह इतना असमर्थ और दीन बन जाता है कि चाहने पर भी पीछा नहीं छुड़ा सकता। उसका जीवन पूरी तरह नष्ट हो जाता है। अतएव इन बुराइयों को जीवन में एक बार भी, भूल करके भी, स्थान नहीं देना चाहिए।

श्रावकधर्म का पालन करने की इच्छा रखने वाले पुरुषों को इन बातों पर भी ध्यान देना चाहिए:—

(१) श्रावक अल्पारंभी और अल्पपरिग्रही होता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह अपने जीवन व्यवहार को इतना सीधा साधा बना ले कि अल्प साधनों से ही उसका निर्वाह हो सके। जीवन चलाने के लिए उसे पापमय धंधा न करना पड़े। जिस व्यापार अथवा धंधे में बहुत हिंसा होती हो, अधिक आरंभ होता हो, वह श्रावक के लिए हेय है। शास्त्रों में पन्द्रह कर्मादानों का त्याग इसी दृष्टि से बतलाया गया है।

(२) मिलावट करना श्रावक को योग्य नहीं। आजकल व्यापारिक क्षेत्र में मिलावट का दौर बड़ी तेजी के साथ चल रहा है। घी में मिलावट, दूध में मिलावट, आटे में मिलावट, तेल में मिलावट! कौनसी चीज बिना मिलावट की सरलता से मिल सकती है? मगर मिलावट करना घोर अनैतिकता है। व्यापारिक दृष्टि से भी यह कोई सफल नीति नहीं है। जो लोग पूर्ण प्रामाणिकता के साथ व्यापार करते हैं और शुद्ध चीजें बेचते हैं, उनकी चीज कुछ महंगी होगी और संभव है कि आरंभ में उनकी बिक्री कम हो, मगर जब उनकी प्रामाणिकता का सिक्का जम जाएगा और लोग असलियत को समझने लगेंगे तो उनका व्यापार औरों की अपेक्षा अधिक चमकेगा, इसमें संदेह नहीं। अगर सभी जैन व्यापारी ऐसा निर्णय

करलें कि हम प्रामाणिकता के साथ ही व्यापार करेंगे और किसी प्रकार का धोखा न करते हुए अपनी नीति स्पष्ट रक्खेंगे तो जैन धर्म की कितनी प्रभावना हो! साथ ही उन्हें भी कोई घाटा न रहे।

(३) श्रावकों को ऐसे लोगों की संगति से बचना चाहिए जिनके विचार और आचार का उसके विचार आचार से बिलकुल मेल नहीं है। जो मिथ्यादृष्टि हैं, दुराचारी हैं और अधार्मिक वृत्ति के हैं, जिनकी संगति करने से लाभ के बदले हानि होती है, ऐसे लोगों की संगति से दूर ही रहना चाहिए।

(४) अपनी आमदनी का कुछ भाग पारमार्थिक कामों के लिए निकालना चाहिए। उस रकम से धर्म, समाज, जाति आदि के कल्याण के कार्य करना चाहिए। ऐसा करते हुए अहंकार को चित्त में प्रवेश नहीं करने देना चाहिए वह दान तो व्यापार धन्धे में हुए पापों का थोड़ा-सा प्रायश्चित्त ही है।

प्रदेशी राजा ने, केशी स्वामी के मुखारविन्द से प्रतिबोध पाकर यह आदेश दे दिया था कि-मेरे राज्य की आमदनी का चौथाई भाग दान में दिया जाय।

यह न समझो कि दान देना राजाओं और बड़े २ सेठ-साहूकारों का ही काम है; साधारण स्थिति के लोग दान नहीं दे सकते। अगर उन्होंने थोड़ा बहुत दान दे भी दिया तो उसका महत्त्व ही क्या है? यह समझना भ्रमपूर्ण है। दान का महत्त्व रकम की विशालता में नहीं, दाता की उत्सर्गभावना में निहित है। एक निर्धन जन सच्ची त्यागभावना से, यश की अभिलाषा न करता हुआ, यदि एक रुपया करता है तो वह दान किसी धनी के अहंकारजनक सहस्त्र के से कई गुना प्रशस्त है। अतएव तुम कितना देते हो, यह मत

सोचो, मगर दान दो। हाँ, अपने सामर्थ्य को मत छिपाओ। जितनी सुविधा हो, उतना अवश्य दो और उससे नामवरी की इच्छा मत रक्खो। नामवरी चाहोगे तो वह दान नहीं रह जाएगा, नामवरी की कीमत चुकाना होगा।

जो रकम दान में दे चुके हो, समझ लो कि अब वह तुम्हारी नहीं है। जब उसकी ममता का ही त्याग कर दिया तो फिर वह तुम्हारी रही भी कैसे? अच्छा होगा कि उसे अपने पास मत रक्खो।

(५) अपने बालकों के कोमल चित्त पर धर्म के संस्कार डालना श्रावक का अत्यावश्यक कर्त्तव्य है। अगर आपने अपने बालकों को धर्म की ओर उन्मुख कर दिया तो उनका समग्र जीवन सुधार दिया। अतएव जैसे आप उनके लिए आर्थिक पूँजी जमा कर जाना चाहते हो, उसी प्रकार धार्मिकता की पूंजी उन्हें दे जाने का प्रयत्न करो। पैसा समाप्त होते क्या देर लगती है? जिसकी सन्तान सुसंस्कारी नहीं है, उद्दंड है, दुराचार के चक्कर में पड़ गई, उसकी जमा की हुई पूंजी शीघ्र समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत, यदि आप बच्चों को संस्कार देकर जाते हैं तो पूंजी न होने पर भी वे सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने का मार्ग खोज सकेंगे। अतएव आपका ध्यान मुख्य रूप से बालकों को सुसंस्कारी एवं धमनिष्ठ बनाने की ओर होना चाहिए।

देखो, कृष्णजी के समय तो कंस ही ऐसा था जो धर्म को नहीं मानता था, मगर आजकल तो कई कंस पैदा हो गए हैं।

जवानी का मद, धन का मद और राज्य का मद, यह तीन मुख्य मद माने गए हैं। इनमें से एक २ मद भी मनुष्य को अंधा बना देता है तो जिसमें यह तीनों हों, उसका तो कहना ही क्या है?

यह मद पापी जीव को ही आते हैं। कंस में यह तीनों मद प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हो गए थे।

इन तीनों मदों से मत्त होकर कंस किसी को कुछ समझता ही नहीं था। वह मानता था कि इस विश्व में मैं ही महाप्रभु हूँ। वह सभा में बैठकर कहा करता था—देखो, मैं मथुरा का राजा हूँ और मेरा नाम कंस है! मैं इन्द्र के समान हूँ और इस भूतल पर मेरे समान कोई नहीं है।

फिर वह पण्डितों की ओर दृष्टि घुमा कर बोला—बोलो पंडितो! मेरा सामना करने वाला दुनिया में कोई है? मैं पाप—पुण्य, धर्म-अधर्म कुछ नहीं मानता हूँ—बस केवल पराक्रम पर भरोसा करता हूँ। यह पृथ्वी उसी की चेरी है जो पराक्रमी है। पुण्य और पाप अगर कहीं हैं तो मेरी तलवार में हैं; मेरी निगाह में है। जिसे मैं अनुग्रह की निगाह से देखता हूँ, वही पुण्यशाली है। ऐसा था कंस का अभिमान!

एक दिन कंस देवकी के पास गया और एक छोकरी को देख कर कहने लगा—क्या यही छोकरी मुझे मारेगी? देखो, अयवता साधु बन गया है, मगर कितना झूठा है! उसने भविष्यवाणी कर दी कि देवकी के सातवें गर्भ से उत्पन्न बालक मुझे (कंस को) मारेगा! कल इसका निर्णय करूँगा।

दूसरे दिन कंस ने बाकायदा दरबार लगाया और बड़े २ पंडितों एवं ज्योतिषियों को बुलवाया। जब सभा भवन भर गया तो उसने . . . से कहा—हे ज्योतिषशास्त्र के पण्डितो! विचार कर मेरे प्रश्न का उत्तर देना। दुनिया कहती है कि साधु के वचन झूठे नहीं

अभिमानी के अभिमान को चूर करने वाला कोई न कोई निकल ही आता है। किसी का अभिमान सदा टिक नहीं सकता। देखो, सूरज और चांद कैसे प्रकाशमान हैं और कितनी ऊंचाई पर रहते हैं। मगर उनका भी ग्रास (ग्रहण) होता है। तो जब मनुष्य के बुरे दिन आते हैं तो उसे अहंकार घेर लेता है। और वह अहंकार से अन्धा बन जाता है और समझता है कि संसार में मुझ सरीखा कोई हो ही नहीं सकता। वह दूसरों को दुःख देता है, किन्तु—

सुख दीया सुख होत है, दुख दीया दुख होय।

जो दूसरों को सुख देता है, उसे सुख की प्राप्ति होती है, और दुःख देने वाले को दुःख मिलता है। कहावत है इस हाथ दे उस हाथ ले। जैसा व्यवहार दूसरों के प्रति करोगे वैसा फल पाओगे। अतएव अगर तुम सुख चाहते हो तो दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करो। तुम्हारे पास जो भी साधन-सामग्री है, उसका उपयोग इस प्रकार करो कि दूसरे जीवों को आराम पहुँचे।

अगर आराम चाहते हो, नसीहत यह हमारी है।
किसी का मत दुखाओ दिल, सभी को जान प्यारी है॥

भाईयों! तुम अपना भला चाहते हो तो निश्चय मानो कि तुम्हारी भलाई दूसरों की भलाई में ही है। कोई चाहे कि दूसरों का बुरा करके मैं सुखी बन जाऊं, तो ऐसा होना सम्भव नहीं है। बंबूल बोकर आम खाने की इच्छा करना व्यर्थ है।

अगर तुम महावीर के सच्चे सेवक हो तो कभी किसी का बुरा मत सोचो। बुरा करने की बात दूर, बुरा सोचना भी अपने

ांव पर कुठाराघात करना है। देखो, बहुत पुण्य के उदय से वीत-
ाग भगवान् का मार्ग हाथ लगा है।

संसार में कितने मनुष्य हैं जिनको यह सौभाग्य प्राप्त हो ?
ऐसा विरल सौभाग्य तुम्हें मिला है तो इससे लाभ उठालो। प्राणी-
मात्र को अपने समान समझो। जैसे तुम स्वयं दुःख से बचना
चाहते हो और सुखी बनना चाहते हो, वैसे ही संसार के समस्त
प्राणी सुख के अभिलाषी हैं। दुःख किसी को प्रिय नहीं है। सब
दुःख से दूर रहना चाहते हैं। अतएव ऐसा कोई कार्य मत करो
जिससे किसी के चित्त को पीड़ा पहुँचे। ऐसे शब्दों का भी प्रयोग
मत करो और मन से भी पीड़ा पहुँचाने की बात मत सोचो।
जितनी तुम्हारे भीतर शक्ति है और जितना भी सम्भव हो, दूसरों
को सुखी बनाने का यत्न करो। इसी तरह व्यवहार करने से तुमको
सुख की प्राप्ति होगी। मनुष्य मात्र यदि इस धर्म का पालन करे तो
यही पृथ्वी स्वर्ग के समान बन जाय।

स्मरण रक्खो कि तुम जो भी भला-बुरा काम करोगे उसका
फल अवश्य मिलने वाला है। कई कामों का फल तो तत्काल मिल
जाता है।

कई लोग डोलर हींडे में झूलने के लिए बैठे। इस हींडे में
चार पालकियां होती हैं। एक ऊपर, एक नीचे और दो दोनों बाजू
में रहती हैं। जो पालकी ऊपर थी, उसमें बैठे हुए आदमी ने नीचे
वाले को कहा—देखोजी, मैं ऊपर हूँ और मुझे खांसी आ रही है।
मैं थूकूंगा।

नीचे वाले ने कहा—भाई, जरा ठहर जाओ। नीचे आओ त
थूक लेना।

मगर अभिमान में छका हुआ वह मनुष्य कब मानने वाला था। उसने नीचे वाले पर थूक ही दिया। नीचे वाले ने कुछ नहीं कहा। चुपचाप रह गया। थोड़ी देर में ही नीचे वाला ऊपर पहुंचा और ऊपर वाला नीचे आ गया। उस समय ऊपर वाले ने कहा—मुझे पेशाब लग रही है।

नीचे वाले ने कहा—जरा रुक जाओ।

ऊपर वाले ने चट उत्तर दिया—थूक तो रुक सकता था, मगर पेशाब कैसे रुक सकता है?

यह कह कर उसने पेशाब कर दिया। नीचे वाले के कपड़े बिगड़ गए। मगर सच पूछो तो अपनी दुर्दशा का कारण वह स्वयं ही था। न वह दूसरे पर थूकता, न पेशाब से उसके कपड़े खराब ही होते।

तो यह संसार भी एक प्रकार का हिंडोला है। यहां भी किसी की स्थिति एक सी नहीं रहती। आज जो ऊंची स्थिति पर है, वह कल नीची स्थिति में चला जाता है और नीची स्थिति वाला ऊँची स्थिति पर। कब इस प्रकार का परिवर्तन हो जाएगा, कहा नहीं जा सकता। अतएव जब तुम्हारी स्थिति ऊँची हो तो अभिमान मत करो। अभिमान चूर-चूर होते कुछ भी देर नहीं लगती। विनम्र भाव से रहो। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे पाकर तुम अभिमान कर सको, क्योंकि वह वास्तव में तुम्हारी नहीं है और सदा तुम्हारे पास रहने वाली नहीं है। अभिमान करोगे तो आगे चल कर नीचा देखना पड़ेगा।

इस प्रकार मानव जीवन में बड़े विवेक की आवश्यकता है। जो विवेक पूर्वक जीवन को व्यतीत करेगा, वह आगामी भवों को सुखमय बना लेगा और जो विवेक के अंकुश को हटाकर उच्छृंखल प्रवृत्ति करेगा, वह अपने लिए दुःखों की सृष्टि कर लेगा। आप लोगों को यह धर्म श्रवण करने का अवसर मिला है। इसका सदुपयोग करके सुखी बनो।

ब्यावर
६-६-५१

:: त्राता ::

卐

मत्वेति नाथ तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभवत्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥

भगवान् श्री ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं--हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान् पुरुषोत्तम भगवान्! कहां तक आपकी स्तुति की जाय ? कहाँ तक आपके गुणों का गान किया जाय ?

हे पुरुषोत्तम! हे लोकोत्तम! हे सर्वोत्तम! आपकी स्तुति करने से स्तोता के जन्म जन्मान्तर के पाप धुल जाते हैं। इस प्रकार की श्रद्धा से प्रेरित होकर मैं स्वल्प बुद्धि होकर भी आपकी स्तुति प्रारम्भ कर रहा हूँ। मेरे द्वारा रचित, होने के कारण तो यह स्तोत्र सत्पुरुषों के चित्त को हरण कर नहीं सकेगा और न रचना की रुचिरता ही विद्वानों का चित्त इस ओर आकर्षित कर सकेगी। किन्तु

प्रभो ! यह स्तोत्र आपका है और आपका प्रभाव लोकोत्तर है; इस कारण, विश्वास है कि इसकी ओर भव्यजनों का चित्त आकर्षित होगा।

जल के एक बिन्दु का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है, तथापि कमलिनी के पत्ते का सम्पर्क पाकर वह मुक्ताफल की महिमा प्राप्त कर लेता है-मोती के समान सुन्दर चमकता हुआ दिखाई देता है।

तो जिन आदि देव भगवान् ऋषभदेव का ऐसा अलौकिक माहात्म्य है, उन्हीं ऋषभदेव भगवान् को हमारा वार-वार नमस्कार है।

भव्य जीवो ! श्रीठाणांगसूत्र में चार प्रकार के हाथी कहे गये हैं। यथा-(१) कोई-कोई हाथी सब प्रकार से युक्त हैं और शोभनीक भी होते हैं। (२) कोई-कोई युक्त तो हैं मगर शोभनीक नहीं होते (३) कोई-कोई शोभनीक नहीं होते, मगर युक्त होते हैं और (४) कोई-कोई न युक्त होते हैं और न शोभनीक होते हैं।

इन चार प्रकार के हाथियों में प्रथम प्रकार के हाथी सर्वोत्तम गिने जाते हैं। दूसरे और तीसरे प्रकार के मध्यम माने जाते हैं और चौथे प्रकार के निकृष्ट समझे जाते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं। कोई-कोई मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो दिखने में सुन्दर होते हैं अनायास ही उनकी ओर ध्यान आकर्षित हो जाता है, जिनके चेहरे को देखने मात्र से दूसरों को आह्लाद एवं शान्ति की प्राप्ति होती है और साथ ही उनकी प्रवृत्ति भी प्रशंसनीय होती है। ऐसे लोग इस उक्ति को चरितार्थ करते हैं :—

यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति ।

मनोविज्ञान वेत्ताओं का कथन है कि मनुष्य के मन में उत्पन्न होने वाले विचारों का प्रभाव उसके मुखमण्डल पर अंकित होता रहता है। इस सचाई को सर्व धारण लोग सरलता से नहीं समझ सकते। वे विचारों के सूक्ष्म प्रभाव को लक्षित नहीं कर सकते। तथापि जब किसी मनुष्य के मन में अनुकम्पा, क्रोध, भय आदि का तीव्र विकार उत्पन्न होता है तो मुखमण्डल पर पड़ने वाला असर इतना स्पष्ट होता है कि उसे साधारण मनुष्य भी परख लेता है। तो जिस प्रकार तीव्र मनोविकार चेहरे पर गहराई के साथ प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार हल्के विकारों का प्रतिबिम्बित होना भी आवश्यक है। मनुष्य में ऐसी सूक्ष्म दृष्टि होनी चाहिए कि वह उन्हें जाँच सके।

तो जिस मनुष्य का मन सदैव दया, क्षमा, अनुकम्पा, सहानुभूति, विनीतता आदि सात्त्विक भावनाओं से ओतप्रोत रहता है, उसका मुखमण्डल भी अत्यन्त प्रशस्त, सौम्य एवं आह्लादजनक होता है। इसी दृष्टि से कहा गया है कि सुन्दर आकृति में सुन्दर निवास होता है।

तो जो मनुष्य शोभनीक भी है और सच्चरित भी है, उसका जीवन प्रशंसनीय होता है। जो भी ऐसे मनुष्य के संसर्ग में आते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं। उसका यश सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।

कई लोग ऊपरी दिखावा तो बड़ा अच्छा करते हैं, सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण धारण करते हैं, साफ-सुथरे रहते हैं, मगर चाल-चलन के अच्छे नहीं होते। किसी से बात करते हैं तो नीच भावना से। उनका मन कलुषित होता है। पाप के विचारों से परिपूर्ण उनकी

वाणी ही उनके असंयम को प्रकट कर देती है। वे किसी को लाभ नहीं पहुँचाते, किसी के प्रति सहानुभूति नहीं करते। ऐसे लोगों के लिए दूसरे कहते हैं—सपूत के घर यह कपूत कैसे पैदा हो गया ?

भाइयो ! दुनियां में जीना क्या और मरना क्या है ? आप कहेंगे कि सांस का चालु रहना जीवित रहना कहलाता है और सांस बंद हो जाना मरना है। परन्तु यदि वायु का आना-जाना ही जीवन है तो लोहार की धौंकनी को आप जीवित क्यों नहीं कहते ? वह तो जब चलती है तो मनुष्य से भी ज्यादा वायु को ग्रहण करती और छोड़ती है। ऐसी स्थिति में सच्चे जीवन का अर्थ कुछ और ही समझना पड़ेगा। एक कवि ने कहा है —

दानोपभोगरहिता, दिवसा यस्य यान्ति वै ।
स लोहकारभस्त्रेव, श्वसन्नपि न जीवति ॥

अर्थात्—जो पुरुष प्राप्त लक्ष्मी आदि साधनों का दान करके दूसरों को साता नहीं पहुँचाता और कंजूसी के कारण जो स्वयं भी उपयोग नहीं करता और जो यों ही दिन व्यतीत करता है, वह लोहार की धौंकनी के समान श्वासोच्छ्वास लेता हुआ भी जीवित नहीं है।

तो फिर वास्तव में जीवन क्या है ? और किसका जीवन सार्थक है ? इसका उत्तर दिया गया है—

स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य स जीवति ।
गुणधर्म विहीनो यो, निष्फलं तस्य जीवितम् ॥

वास्तव में जीवित वह है जिसमें सद्गुण विद्यमान हैं। जीवित वह है जिसके व्यवहार में धार्मिकता ओतप्रोत है। ज

सद्गुण नहीं और धर्म भी नहीं है, उसका जीवन निष्फल है। जीना, न जीने के समान है।

भाईयो! लोग जिसकी प्रशंसा करते हैं, वह जब जीवित है, तब भी जीवित है और जब मर गया है, तब भी जीवित है। वह मर कर भी अमर है, क्योंकि यद्यपि उसका भौतिक शरीर नष्ट हो गया है तथापि यश शरीर विद्यमान है और जन-जन के हृदय में वह वास करता है। लोग उसके नाम पर अपनी श्रद्धा के सुमन समर्पित करते हैं। इसके विपरीत, जिसका जीवन अपयश के कलंक से कलंकित है, जिसके नाम पर लोग घृणा बरसाते हैं, सर्वत्र जिसकी निन्दा ही निन्दा सुनाई देती है, वह श्वास लेता हुआ भी मृतक के समान है। जिसने अपने जीवन में सद्गुणों का संचय नहीं किया और धर्म की आराधना नहीं की, वह व्यर्थ ही मनुष्य बना। मनुष्य बन कर भी वह कुछ लाभ नहीं उठा पाया। उसका जीवन निष्फल है।

आपका कितना बड़ा सौभाग्य है कि आपको ऐसे देश में जन्म मिला है, जिसका इतिहास अत्यन्त उज्ज्वल है और जिस देश के अतीतकालीन महापुरुषों के एक से एक उत्तम जीवन आज भी विश्व के सामने महान् आदर्श के रूप में उपस्थित हैं। इन महापुरुषों की पवित्र जीवनियों से आप बहुत कुछ सीख सकते हैं। समय-समय पर आपको उनकी जीवनियाँ सुनने को मिलती हैं। इतने और ऐसे-ऐसे पवित्रात्मा किसी अन्य देश में नहीं हुए। फिर भी आप उनसे लाभ न उठावें और उनके चरणचिह्नों पर चलने का थोड़ा-सा भी प्रयत्न न करें तो कितने खेद की बात है।

देखो, महाराज दशरथ के सुपुत्र रामचन्द्रजी का जीवन कितना उच्च कोटि का था? उनके जीवन से कितनी ही ऊँची विशेषताएँ

मिलती है। अपने सौतेले भाई के लिए स्वेच्छापूर्वक अवध का विशाल राज्य त्याग देना कोई साधारण त्याग है ? आप अपने सहोदर भाई के लिये कितना त्याग कर सकते हैं ? अजी त्याग तो दूर रहा, आज सैकड़ों ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो अपने भाई का हक हड़प जाना चाहते हैं और अवसर मिलने पर हड़प भी जाते हैं। अगर न्यायालयों से रिपोर्ट इकट्ठी की जाय तो हजारों मुकदमे भाई-भाई के बीच चलते मिलेंगे। तुच्छ-सी सम्पत्ति के लिये भाई भाई के खून का प्यासा बन जाता है। यह दशा है आज इस देश की। और देश दावा करता है रामचन्द्रजी का अनुयायी होने का।

भाइयो ! रामचन्द्रजी का जीवनचरित तुमने एक बार नहीं, अनेकों बार सुना होगा। किन्तु एक बार विचार तो करो कि उनके चरित से तुमने क्या सीखा ? तुमने उनसे उदारता त्याग वीरता सीखी ? भ्रातृप्रेम सीखा ? पितृभक्ति सीखी ? स्वालम्बन सीखा ?

जिन भरत चक्रवर्त्ती के नाम पर यह देश आज भी भारतवर्ष कहलाता है, उनकी जीवनी पढ-सुन कर तुमने क्या शिक्षा ग्रहण की ? पिता जिनके तीर्थंकर थे, स्वयं जो चक्रवर्त्ती थे संसार का उत्तम से उत्तम वैभव जिनके चरणों में लोटता था, सहस्त्रों देव भी जिनके सेवक थे, वह महापुरुष अन्तर में कितना अलिप्त था ? विश्व का सर्वोत्तम वैभव उसकी अन्तरात्मा को स्पर्श नहीं कर सका। साम्राज्य उसे प्रभावित नहीं कर सका। वह ऋद्धि का दास नहीं, स्वामी था। इसी कारण ऋद्धि उसके आत्मिक विकास को अवरुद्ध नहीं कर सकी। वह काच के महल में ही सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गया।

विक्रमादित्य राजा कितना प्रतापी हुआ है ? उसके नाम का संवत् आज भी चल रहा है।

एक जीव घर में पुण्यवान् होता है तो सारा कुटुम्ब पुण्यवान् और धर्मनिष्ठ बन जाता है और यदि घर में एक व्यक्ति पापी हो तो सारे कुटुम्ब पर उसके पाप की परछाई पड़े बिना नहीं रहती।

किसी नगर में एक सेठ रहता था। पति, पुत्र और पुत्रवधू उसके परिवार में थे। सेठ की कई दुकानें थी और धन की कमी नहीं थी। पुत्रवधू बड़ी धर्मात्मा थी, पर और कोई धर्म का नाम भी नहीं जानता था। दान देना, सामायिक करना, उपवास-पौषध करना मुनि-राजों का उपदेश सुनना आदि कुछ भी धर्म-क्रिया नहीं होती थी। घर का काम-काज नौकर करते थे और सास-बहू भोजनादि से निवृत होकर ऊपर मालिये में चली जाती थी। वहां बैठ कर समय बिताने के लिये कसीदा वगैरह किया करती थीं। दुकान के ऊपर ही झरोखा था, जिसमें चिकें पड़ी थीं। बाजार के नज़ारे भी देखती जाती थीं और काम भी करती जाती थीं।

संयोग से एक दिन सास किसी दूसरे कमरे में थी और बहू अकेली झरोखे में बैठी थी। उसी समय एक भिखारी सेठजी की दुकान पर आकर खड़ा हो गया और बोला:—

है कोई देने वाला टुक्का,
मैं तीन काल का भुक्का।

भिखारी बहुत देर तक खड़ा रहा और ललचाई आँखों से देखता रहा। उसके चेहरे पर दीनता थी और भूख के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। शरीर से कृश था और फटे तथा मैले कपड़ों से, बल्कि कहना चाहिए कि चिथड़ों से किसी प्रकार लाज ढँके हुए था। उसकी हालत देख कर किसी को भी दया आ सकती थी।

मगर सेठ ने एक न सुनी। न कुछ दिया और न उत्तर ही दिया। वह अपने काम में इस प्रकार लगा रहा मानो भिखारी की बात उसके कानों में ही न पड़ी हो।

बहू ने झरोखे में से यह दृश्य देखा। उसका हृदय करुणा से द्रवित हो गया। परन्तु बेचारी दे कुछ नहीं सकती थी। आखिर जब उससे न रहा गया तो बोली हम तो खुद बासी टुकड़े खाते हैं और उपवास करते हैं। तुम आगे जाओ। क्यों व्यर्थ समय नष्ट करते हो?

भिखारी निराश होकर आगे चला गया। सेठ ने भिखारी की बार-बार की पुकार तो सुनी नहीं, मगर बहू के शब्द सुन लिये। वह मन ही मन जल-भुन कर खाक हो गया। सोचने लगा- बहू ने आज हमारी बड़ी बेइज्जती की है। वह भी दस-बारह आदमियों के सामने। इन सुनने वालों ने भी क्या समझा होगा? क्या हम लोग भूखों मरते हैं? क्या बहू को बासी टुकड़े ही खाने को मिलते हैं? फिर बहू ने क्यों हमें झूठा बदनाम किया? ऐसी कुपात्र बहू किस काम की?

शाम को सेठजी जब रसोई जीमने आये तो रसोई जीमने से पहले, आसन पर बैठ कर एक पत्र पढ़ने लगे। सेठानी ने कहा- अजी पहले आराम से रसोई तो जीम लो। सेठ बोले- पत्र बहुत जरूरी है?

सेठानी- कहाँ से आया है?

सेठ-पुत्रवधू के पीहर से आया है। उसके पिता सख्त बीमार हैं। लिखा है- मिलना हो तो शीघ्र भेज दो।

बहू ने यह समाचार सुना तो रोने लगी और कहने लगी- दस-पन्द्रह रोज के लिये भेज दीजिये।

सेठ ने कहा- कल मैं स्वयं जाऊँगा और साथ लेता जाऊँगा। तैयारी कर रखना।

दूसरे दिन दोनों रवाना होकर बहू के पीहर पहुँच गये। पीहर वालों को एकाएक इस प्रकार पहुँचने से कुछ आश्चर्य और सन्देह हुआ। बहू के पिता ने पूछा- सौभाग्य की बात है कि आपका पदार्पण हुआ, मगर यह तो बतलाइए कि अकस्मात् आने का क्या कारण है ?

सेठ ने कहा-मैं आगे जा रहा हूँ। अतः सोचा कि बहू को भी लेता चलूँ। आपसे मुलाकात हो जायेगी।

बहू के पिता ने उत्तर दिया-'तब तो आपने हमारे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया।' फिर सचाई की थाह लेने के इरादे से कहा—जैसे आप बिना बुलाये छोड़ जा रहे हैं, वैसे ही हम भी बाई को कुछ दिनों में भेज देंगे।

यह सुन कर सेठ विचार में डूब गया। वह चाहता था कि कह दे- नहीं, जब तक हमारे यहाँ से कोई लेने न आवे तब तक आप न भेजें। मगर कुछ सोच कर चुप्पी साध गया। बिना कुछ उत्तर दिये दुकानों की जाँच करने चला गया।

लड़की ने अपने पिता को तंदुरुस्त देखकर उस पत्र के विषय में कुछ भी नहीं पूछा। यद्यपि वह चिन्तित थी यह जानने के लिये कि यह सब कैसे हुआ ? मगर मुँह से वह कुछ बोली नहीं।

घर पहुँच कर सेठजी ने अपने लड़के के लिए एक सुन्दर और सुशील लड़की की आवश्यकता दिखलाते हुए अपने रिश्तेदारों को पत्र लिखे। कई रिश्तेदारों को

ऐसे पत्र लिखे गये थे। एक पत्र लड़की के बाप के हाथ लग गया। वह अत्यन्त चिन्तित होकर लड़की के पास पहुँचा। उससे पूछा—बेटी, क्या तूने सुसराल में कोई गलती की है? अपने सास ससुर को नाराज किया है? उनका कोई अविनय किया है?

लड़की ने कहा नहीं, मैंने अपनी जानकारी में कोई अपराध नहीं किया है।

लड़की से उत्तर पाकर उसका पिता सेठ के पास गया। पूछा-सेठ साहब, आखिर क्या कारण है कि आप अपने लड़के का दूसरा विवाह करना चाहते हैं? मेरी लड़की से क्या अपराध बन गया है?

पहले तो सेठ ने टालमटूल किया, मगर जब उसने वह पत्र पेश किया तो मुकरने की जगह नहीं रही। आखिर सेठ ने कहा--देखिए समधी साहब! आपकी लड़की रूपवती है, गुणवती है और सब तरह से ठीक है। मगर उसने एक दिन हमारी बड़ी तौहीन की है। कई लोगों के सामने उसने एक भिखारी से कहा--हम तो बासी रोटी खाते हैं और उपवास करते हैं। इस मिथ्या भाषण का कोई ठिकाना है! जिस घर में ठंडी-बासी खाना मिलता हो, उस घर की बहू भी गैरों के सामने ऐसा नहीं कहती। उसे भी अपने घर की प्रतिष्ठा का खयाल रहता है। किन्तु मेरे यहाँ तो नित्य नये पकवान बनते हैं। फिर भी बहू ने हमारी बदनामी की। सद्गृहिणी का यह कर्त्तव्य नहीं है। इसी कारण मैंने अपने लड़के का दूसरा विवाह करने का विचार किया है।

लड़की के पिता ने यह स्पष्टीकरण सुनकर सोचा--मेरी पुत्री ऐसी फूहड़ या कुसंस्कारी नहीं है कि झूठमूठ अपने घर को बदनाम करे। ऐसी बातें अत्यन्त मूर्ख स्त्रियाँ ही कहती हैं। समझदार स्त्री

का कर्त्तव्य यह होता है कि अपने घर की हीनता को छिपाए, न कि उसका ढोल पीटे। जैसी घर की स्थिति हो, उसी में उसे सन्तोषपूर्वक निभाना चाहिए। यही कुलीनता की निशानी है। मगर समधी जो कह रहे हैं, उसे भी असत्य कह देना ठीक नहीं है। मालूम होता है, कहीं कोई गलतफहमी है। उसे दूर न किया गया तो अनर्थ होगा।

यह सोचकर लड़की के पिता ने अपने समधी से कहा--सेठ साहब ! आपका कथन मिथ्या नहीं हो सकता, पर मेरी लड़की भी ऐसी मूर्खा नहीं कि आपकी तौहीन करने का विचार कर सके। जो घटना हुई है, उसमें कोई न कोई रहस्य अवश्य है उसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। मैं लड़की को यहीं लाता हूँ और आपकी मौजूदगी में ही उससे जवाब तलब करूँगा। उसकी सफाई सुनने के बाद आप जो चाहें, फैसला करना।

सेठ ने सोचा--बात एकदम यथार्थ है, वह सफाई क्या देगी ! अगर आ जाय तो क्या हानि है ?

लड़की बुलवाई गई। उससे पूछा गया--क्या तुमने भिखारी को यह शब्द कहे थे ?

लड़की ने विचार कर कहा--मेरे कहे शब्द श्वसुरजी ने सुन लिये हैं; मगर मँगते के शब्द सुने या नहीं ?

सेठजी ने कहा--याद नहीं हैं।

लड़की ने याद दिलाया तो कहा--हाँ कहे तो थे।

पुनः लड़की बोली--भिखारी ने कहा कि मैं तीन काल का अर्थात भूत, वर्त्तमान और भविष्य का भूखा हूँ। अतः मुझे कुछ

भिखारी उनके द्वार से खाली नहीं जाता था। पुत्रवधु ने घर के सब लोगों को धर्मशिक्षा दी और श्रावक-श्राविका बना दिया। सब धर्म-क्रिया करने लगे और डरने लगे कि कहीं मंगते न बन जाएँ।

कहने का अभिप्राय यह है कि परिवार के एक ही व्यक्ति ने अपनी अविचल आस्था से सब को सन्मार्ग पर लगा दिया।

किन्तु एक पापी कंस ऐसा जन्मा जिसने सारे परिवार का नामोनिशां मिटा दिया।

गोकुल में कृष्णजी मौज से रहते हैं। उधर कंस ने ज्योतिषियों से पूछा--मेरा दुश्मन कौन है? ज्योतिषियों ने उसके दुश्मन के चिह्न बतला दिए। कंस के पूछने पर उन्होंने यह कह दिया कि उसका जन्म हो चुका है। तब कंस ने भीतर ही भीतर घबरा कर पूछा--तो क्या अतिमुक्तक अनगार का कथन सत्य है?

ज्योतिषियों ने हिम्मत के साथ कहा- जी हाँ,शास्त्र से तो ऐसा ही जान पड़ता है।

कंस ने अपने दुश्मन को पहचानने का प्रयत्न प्रारंभ किया। उसने गोकुल में घोड़े को इसलिए छुड़वाया कि जो उसे मार डालेगा,उसी को अपना दुश्मन समझ लूंगा, क्योंकि ज्योतिषियों ने एक पहचान यह भी बतलाई है। जब गोकुल में घोड़ा छोड़ा गया तो कृष्णजी यशोदा मैया की आँख बचाकर घर से निकल भागे। घोड़े के बाल पकड़ कर उसकी पीठ पर सवार हो गये। उसे नचाना शुरु किया। घोड़ा चक्कर खाकर गिर पड़ा और मर गया।

कंस को घोड़े के मरने का समाचार मिला तो उसने पक्का निश्चय करने के लिए क्रमशः भैंसा, हाथी और वृषभ भेजा, किन्तु कृष्ण ने सब को पछाड़ दिया और मार डाला।

एक दिन कृष्णजी यमुना के किनारे लड़कों के साथ गायें चराते हुए गेंद खेल रहे थे। अचानक गेंद नदी में चली गई। कृष्णजी गेंद

लेने के लिए पाताल में गये। वहाँ सोते हुए शेषनाग को जगाया। नाग फुंकारता हुआ इनकी ओर लपका। उसने काटने की तैयारी की। किन्तु साहसमूर्त्ति कृष्ण उसके फन पर सवार हो गए। उन्होंने नाना प्रकार के रूप दिखलाए। नागिन ने कहा--अपनी गेंद ले लो और मेरे पति को छोड़ दो।

कृष्ण ने हँसते हुए कहा--यह मेरी सवारी है। मैं इस पर बैठ कर ऊपर तक जाऊँगा।

कृष्णजी जब ऊपर आए तो बिलखते हुए नन्द, यशोदा और दूसरे ग्वालों की जान में जान आई। यशोदा ने दौड़ कर उन्हें छाती से लगा लिया।

यशोदा ने देखा कि कृष्ण बड़ा उत्पाती हो गया है और खतरनाक साहस करने लगा है। कभी कहीं संकट में न पड़ जाय? यह सोचकर वह कृष्ण को घर में ही रखने लगीं। मगर कृष्ण जैसे पुरुष घर में बैठने के लिए उत्पन्न नहीं होते।

उधर कंस, कृष्ण का हाल सुन कर घबराने लगा। वह प्रतिदिन कोई न कोई उपाय कृष्णजी का काम तमाम करने के लिए करता, मगर कारगर कोई न होता।

वासुदेव कृष्ण महान् पुण्य साथ में लेकर जन्मे थे। उनका एक तो क्या, हजार कंस भी बाल भी बांका नहीं कर सकते थे।

भाइयो! इस जगत में पुण्य ही सब से बड़ा और समर्थ सहायक है। पुण्य जब तक पल्ले में है, अहित के हेतु भी हित के हेतु बन जाते हैं। साँप भी माला बन जाता है। शत्रु भी अनायास मित्र बन जाते हैं। पुण्यवान् को सभी सामग्री ऐसी मिलती है कि उसको सुख की प्राप्ति होती है। उसका दुःख भी सुख के रूप में परिणत हो जाता है।

लोग समझते हैं कि धन हमारा रक्षक है, धन ने हमारी सहायता की है। मगर यह उनकी ना समझी है। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि धन तुम्हारी रक्षा करता है, पर धन की रक्षा कौन करता है? अरे, जब पुण्य निश्शेष हो जाता है तो धन के बड़े-बड़े भण्डार भी सहसा कपूर की तरह विलीन हो जाते हैं। वास्तव में पुण्य के उदय से ही धन की रक्षा होती है।

कुछ लोग मानते हैं कि हमारी रक्षा जन से, कुटुम्ब, परिवार, सैन्य आदि से हो रही है। किन्तु उन्हें अपनी इस धारणा की परीक्षा रोग के समय करना चाहिए। देखना चाहिए कि रोगजनित पीड़ा होने पर कितने स्वजन रक्षा करते हैं। ऐसे लोगों को नमिराज का स्मरण करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि वास्तव में पुण्य के सिवाय जगत में रक्षा करने वाला कोई नहीं है। अन्तरंग में पुण्य प्रबल होता है तो कोई बाह्य निमित्त रक्षा का मिल जाता है। पुण्य न हो तो कोई रक्षा नहीं कर सकता। अतएव अगर आप अपनी रक्षा चाहते हैं तो पुण्य-धर्म करो। इसी से सुख की प्राप्ति होगी। यही आपका त्राता है।

ब्यावर
ता० ७-६-४१

शक्तिकवच-पुण्य

卐

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं,
त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकाश भाञ्जि॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, लोकोत्तम, सर्वोत्तम, भगवन्! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय? हे प्रभो! कहाँ तक आपके गुणों का गान किया जाय?

प्रभो! आप संसार से दूर रहते हुए भी उन संसारी प्राणियों के, जो आपका नित्य स्मरण, गुणानुवाद एवं स्तवन करते हैं, समस्त पापों को नष्ट कर देते हैं। बल्कि आपके स्तवन से ही उनके पापों का क्षय हो जाता है, जो आपकी कथा सुनते हैं, सुनाते हैं, उनकी समस्त चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं, तो भला आपके स्तवन से क्यों नहीं होगी?

कोई आशंका कर सकता है कि भगवान् तो बहुत दूर रहते हैं, फिर उनका कथा संस्तवन करने वाले के पापों का प्रणाश कैसे कर सकती है? किन्तु सूर्य क्या विकसित करने के लिए कमल के पास आता है? नहीं। वह भी कमल से बहुत दूर रहता है, फिर भी उस की प्रभा से ही कमल खिल उठते हैं। ऐसी स्थिति में, लोकाग्र में स्थित भगवान ऋषभदेव की कथा भी यदि संसारी जीवों के पापों का विनाश कर दे तो क्या विस्मय है?

भाइयो! जगत् के भौतिक पदार्थों में भी विचित्र-विचित्र शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं, जिनकी साधारण लोगों को कल्पना तक नहीं हो सकती। कहीं पापड़ बन रहे हों और आसपास से मासिक धर्म वाली स्त्री निकल जाय तो उसका असर पापड़ों पर हो जाता है-पापड़ लाल हो जाते हैं। जब अशुभ पुद्‌गलों में भी इतनी शक्ति है तब परमात्मा में पाप विनाशक शक्ति के होने में क्या आश्चर्य है?

हाँ, पापों का विनाश करने के लिए भगवान् के प्रति भक्तिमय भावना होनी चाहिए, जिसका मन पापों के पंक में फँसा हुआ है और केवल जीभ से जो स्तवन-गान कर रहा है, उसकी बात न्यारी है; किन्तु जो भक्तिभाव से भगवान का स्तवन करता है, उसके समस्त पापों का नाश अवश्य हो जाता है। पापों के नाश से दुःखों का नाश होता है और अन्त में अनन्त अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो जाती है।

तो जिनके स्तवन में इतना माहात्म्य है, उन ऋषभदेव भगवान् को ही हमारा बार २ नमस्कार हो।

कुछ दिनों से आपको श्रीस्थानांगसूत्र की चौभंगियाँ समझाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इन्हें सुनकर आपको अपने जीवन की

परीक्षा करनी है और देखना है कि आप किस ढंग में 'फिट' होते हैं। मनुष्य जैसे अपनी आर्थिक स्थिति की समीक्षा करता है, उसी प्रकार उसे अपने जीवन व्यवहार की भी समीक्षा करनी चाहिए। प्रत्येक को सोचना चाहिये कि मेरा जीवन कैसा होना चाहिए? वर्तमान में कैसा है? उसमें जो कमी है, उसे दूर कैसे किया जाय? यदि यह कमी दूर न की गई तो क्या परिणाम होगा? इस प्रकार जीवन की सही २ आलोचना करने से आपको अपनी बुराई-भलाई का स्पष्ट पता चलेगा। आपके जीवन का सही चित्र आपके सामने उपस्थित रहेगा। आप अपने को समझ सकेंगे।

बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो प्रत्येक विषय पर तर्क-वितर्क करने को तैयार रहते हैं और उनकी बातों से ज्ञात होता है कि वे विविध विषयों के वेत्ता हैं, मगर आश्चर्य यह देखकर होता है कि अपने आन्तरिक जीवन के सम्बन्ध में वे एकदम अनभिज्ञ हैं। वे 'दिया तले अंधेरा' की कहावत चरितार्थ करते हैं। आँख दूसरों को देखती है, अपने आपको नहीं देखती। इसी प्रकार वे लोग भी सारी सृष्टि के रहस्यों पर तो बहस कर सकते हैं, मगर अपने को नहीं जानते।

ज्ञान की सार्थकता अपने आपको जानने में है। अगर आपने अपने आपको—आत्मा को—समझ लिया है तो मानो कि सभी कुछ समझ लिया है। जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसने दूसरा बहुत कुछ जान कर भी, कुछ नहीं जाना। ज्ञानी पुरुष कहते हैं:—

आत्मावबोधान्न परं हि किञ्चित्।

इस विशाल विश्व में अनेक उत्तम पदार्थ विद्यमान हैं, परन्तु आत्मज्ञान से बढ़ कर अन्य कुछ भी नहीं है। जिसने आत्म ज्ञान प्राप्त कर लिया, उसे कुछ प्राप्तव्य नहीं रह गया।

शास्त्रकारों ने नाना प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य किसी भी तरीके से अपने को समझे। श्रीस्थानांगसूत्र की चौभंगियाँ भी इसीलिए हैं कि आप अपने स्वरूप को समझें और समझकर जीवन को ऐसा बनाएँ जिससे आपका भविष्य मंगलमय बन जाय।

हाँ, तो बतलाया गया है कि चार प्रकार के हाथियों के समान पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं। कोई पुरुष रूपवान् भी होता है और उसका परिणमन भी अच्छा होता है-अर्थात् उसका चाल-चलन भी अच्छा होता है। अनाथी मुनि का उल्लेख करके बतलाया जा चुका है कि वह इसी भंग में सम्मिलित थे। उनके रूप को देखकर श्रेणिक राजा भी चलता २ रुक गया था। शरीर के समस्त अवयवों का यथोचित होना ही रूप कहलाता है, न कि काला गोरा होना। काला-गोरा वर्ण है और शरीर सौष्ठव रूप है।

कोई २ परिणत तो अच्छे होते हैं, मगर रूपवान् नहीं होते। कोई २ रूपवान होते हैं मगर उनका परिणमन अच्छा नहीं होता। कोई ऐसे भी होते हैं जो न तो रूपवान् ही होते हैं और न सुपरिणत ही होते हैं।

महाराणा प्रताप का चित्र देखने से पता चलता है कि वे कैसे रूपवान थे। शुभ नामकर्म के उदय से सुन्दर रूप की प्राप्ति होती है। यह रूप की बात नहीं, वस्तुतः पुण्य-पाप की बात हो रही है। जो पुण्य उपार्जन करके आए हैं, उन्होंने रूप पाया है और जिन्होंने पाप किया था, उन्होंने पूरी इन्द्रियाँ नहीं प्राप्त की हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्वभव में कृत शुभाशुभ कर्म के अनुसार ही इस जन्म में शारीरिक सम्पत्ति की प्राप्ति हुई है और इस जन्म में किये कर्मों के अनु-

मार आगामी जीवन में प्राप्ति होगी। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक जीव का भविष्य उसी के हाथ में है, किसी दूसरे के हाथ में नहीं। मनुष्य जैसा चाहे, अपना भविष्य निर्माण कर सकता है।

ऐसा होने पर भी खेद की बात यह है कि अधिकांश मनुष्य गफलत में रहते हैं। वे वर्त्तमान में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि आगे की बात ही भूल जाते हैं, मानों जो कुछ है सो वर्त्तमान ही है; आगे कुछ रहेगा ही नहीं--अगला जन्म होगा ही नहीं। मगर इस प्रकार की गफलत का नतीजा बहुत बुरा होता है। वर्त्तमान जीवन तो थोड़े ही समय का है, परन्तु भविष्य तो अनन्त है। उसकी ओर ध्यान न देने से बड़ी गलती दूसरी नहीं हो सकती। अतएव अगर आप अपना भविष्य आनन्दमय बनाना चाहते हैं तो सावधान हो जाइए। यही सुन्दर अवसर है। इस अवसर को चूको मत। एक बार हाथ से बाजी चली गई तो फिर हाथ आना कठिन है। जो समय जा रहा है, फिर मिलने का नहीं। इस प्रकार के अवसर को गँवा देना मूर्खता की हद होगी।

पुण्यबन्ध करने में कोई तकलीफ नहीं होती। तनिक अपने मन को सँभालने और साधने की ही आवश्यकता है। मन कुछ न कुछ विचार तो करता ही रहता है, उसे बुरे विचारों की तरफ से मोड़ कर दूसरी दिशा में ले जाने की आवश्यकता है। किसी का बुरा करने का विचार मत करो, किसी की उन्नति देख कर डाह मत करो। प्राणियों पर अनुकम्पा का भाव रक्खो। यथासंभव दूसरों की सहायता करो। जितना बन सके दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करो। इस प्रकार अगर आपका मन बुराई की ओर से हट जायगा तो आपके वचन भी पापजनक न होंगे और शरीर से भी कोई पापकर्म न होगा जब मन, वचन और तन की प्रवृत्ति शुभ होगी तो स्वतः पुण्य का बन्ध हो जाएगा।

देखो, मल्लिनाथजी का रूप कितना सुन्दर था, जिसे देख कर राजा लोग मुग्ध हो गये थे। गौतम स्वामी ईर्षा और अभिमान से प्रेरित होकर भगवान् महावीर के पास वादविवाद करने के लिए पहुँचे थे। वह चाहते थे कि महावीर को परास्त करके मैं अपनी पण्डिताई की पताका भारत में फहराऊँगा; मगर महावीर भगवान् के निकट पहुँचे और उनका जो रूप देखा तो सब कुछ भूल गये। भगवान् के भक्त बन गये और दीक्षित होकर शिष्यता स्वीकार की। यह सब कैसे हुआ? लोग ऊपरी बातों को देखते हैं, परन्तु असली कारण पुण्यातिशय ही था।

एक वार किसी बादशाह ने अपने नगर के जौहरियों को बुलवा कर कहा-तुम हीरों की पहचान करते हो तो यह भी बतलाओ कि मुझमें और दूसरे मनुष्यों में क्या अन्तर है?

किसी भी जौहरी को इस प्रश्न का उत्तर नहीं सूझा। वह समझ न सके कि बादशाह किस दृष्टि से यह प्रश्न कर रहा है।

वहीं एक नवयुवक खड़ा था। उसने कहा-आज्ञा हो तो मैं इस प्रश्नका उतर दूँ?

जौहरी बोले-बादशाह सलामत के प्रश्न का उत्तर हम बूढों को तो आता नहीं, यह छोकरा क्या देगा? मगर बादशाह के मन में कुतूहल जाग रहा था। अतएव उसने कहा-बुद्धि का ठेका किसी को नहीं दिया गया है। वह बालक में भी हो सकती है और बुड्ढों में भी नहीं हो सकती। नौजवान मेरे सवाल का जवाब देना चाहता है तो खुशी से दे। हमें सुनना चाहिए। फिर उस नौजवान से कहा-अच्छा, तुम्हीं कहो।

नवयुवक ने सोना तोलने की तराजू मँगवाई। वह उसके दोनों पलड़ों को बराबर करने लगा और इसमें बड़ी देर लगाई। तब बादशाह ने पूछा—भाई, आखिर कर क्या रहा है?

नवयुवक—मैं यह देख रहा हूँ कि दोनों पलड़ों में फर्क तो नहीं है।

बादशाह ने कहा—कोई फर्क नहीं है।

तब नवयुवक बोला—जैसे दोनों पलड़ो में फर्क नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य-मनुष्य में भी फर्क नहीं है।

इसके पश्चात् उसने एक पलड़े में एक रत्ती डाल दी। तब बादशाह ने कहा—अब एक रत्ती का फर्क है। जैसे इनमें एक रत्ती का फर्क है वैसे ही आपमें भी एक रत्ती ज्यादा है।

रति विन राज रति विन काज,
रति विन जोग जती का।
रति विन हेत रति विन प्रीति,
एक रति विन पाव रती का ॥

जिस काम को दस आदमी नहीं कर सकते, उसे एक रतिवान् आदमी कर सकता है। वही का वही नमस्कारमंत्र है, जिसका स्मरण सीता ने किया और अग्नि का जल हो गया। गाढ़े अवसर पर श्रीपाल ने याद किया तो उसका संकट टल गया। रति होना चाहिए। रति के विना हाथ से गाड़ा हुआ धन भी गायब हो जाता है। रतिवान् के लिए पग-पग पर निधान है। रतिवान् जिस समूह का न

होता है, वह समूह भी दीप्त हो उठता है। इस प्रकार की रति पुण्य का ही प्रभाव है। मनुष्य में एक रति न हो तो वह पात्र रति (रत्ती) का ही है।

सुनार को कोई जस्त देकर सोने का आभूषण घड़ाना चाहे तो क्या वह घड़ देगा ? कभी नहीं।

किसान खेत में बीज डाले बाजरे का और इच्छा करे गेहूँ की तो क्या उसे गेहूँ मिल सकते हैं ? इसी प्रकार जिसने पाप का आचारण किया है, वह सब प्रकार की जोगवाई चाहे तो क्या मिल सकती है ? नहीं। आत्मा-आत्मा में फर्क नहीं है. फर्क है करनी में। जो जैसी करनी करता है, उसे वैसी ही सामग्री मिल जाती है।

शरीर किसने बनाया है ? कर्म के साथ आत्मा का संयोग होने से यह शरीर बना है। पहले शरीर बन जाय और फिर जीव आकर उसमें प्रवेश करे, ऐसा नहीं होता। जीव पहले आता है शरीर पीछे बनता है।

पहले कारीगर आता है, पीछे वह नींव लगाता है।
इसी तरह से गर्भाशय में तन का खेल रचाता है॥

मकान की नींव पीछे डाली जाती है, पहले कारीगर आता है। इसी प्रकार जीव के गर्भ में आने पर ही शरीर बनता है। सब चीजें तैयार हों और अच्छी हों तो इमारत अच्छी बनती है। किसी चीज की कमी रह जाय तो इमारत भी कमी रह जाती है। इसी प्रकार करनी में यदि कुछ कमी रह जाय तो शरीर में भी कुछ न कुछ कमी रह जाती है। इसी कारण मैं वार-वार चेतावनी देता हूँ कि भावना में कमी मत आने दो जिससे करणी में कमी न आवे।

हे भव्य प्राणियो ! तुम्हें मन के रूप में विचार करने का एक अनमोल साधन मिला है। बुद्धि तुम्हें प्राप्त है। तुम में शास्त्रों को सुनने और समझने का सामर्थ्य है। इन सब शक्तियों की सार्थकता इसी में है कि अपने शुद्ध स्वरूप को समझो। शुद्ध स्वरूप की समझ आ जाने पर मालूम हो जायगा कि इस समय की विकृत अवस्था का कारण क्या है ? वर्त्तमान कालीन दुःख किन कारणों से उत्पन्न हुए हैं ? उन कारणों को दूर करके सर्वोच्च शान्ति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ? इन प्रश्नों पर विचार करना चाहिए। इन पर विचार करना जीवन का महान् कार्य है।

श्रीमद् आचारांग सूत्र में भगवान् ने फर्माया है कि संसार में कई जीव ऐसे हैं जिन्हें मालूम नहीं होता कि वे कहाँ से आए हैं और कहां जाएँगे ? कोई-कोई तो इतना भी नहीं जानते कि यह जीव कहीं से आता और कहीं जाता भी है अथवा नहीं ? इस प्रकार का अज्ञान का पर्दा मनुष्य की बुद्धि पर पड़ा हुआ है। इस पर्दे को दूर करना जीवन का एक बड़ा पुरुषार्थ है। जिसने यह पुरुषार्थ किया और सफलता प्राप्त की, वे धन्य हो गये। आपको भी यह मौका मिला है। आप भी पुरुषार्थ करके धन्य बन सकते हैं। देखो —

जाती है उम्र तुम्हारी, प्रभु को भजो रे भाई ।
गफलत में क्यों पड़े हो, अनमोल देह पाई ।
सेजों के बीच सोते, नारी का रूप जोते ।
अरे हैं ये सौख्य थोते, तू क्यों रहा लुभाई ।
जाती है उम्र तुम्हारी० ॥ १ ॥

पोशाक तन सजाते, इतर फुलेल लगाते ।
बागों के बीच जाते, सैलें करें सवाई ॥ २ ॥

दुनिया तो है तमाशा पानी में ज्यूं बताशा ।
जब निकल जाय स्वासा, दे मिट्टी में मिलाई ॥ ३ ॥
कौन किसके साथ जाना, नाहक तू दिल फंसाना ।
कर धर्म साथ आता, दिया 'चौथमल' चेताई ॥ ४ ॥

भाइयों ! जो सुयोग मिला है, उसे संसार के आमोद प्रमोद में विनष्ट मत करो बल्कि आत्मा के स्वरूप को समझने में उसका सदुपयोग करो। देखो. यह विषय सुख क्षणिक है और इसमें लीन होने का परिणाम बहुत ही भयानक है, दारुण है। अतएव समझो, बूझो अपना स्थायी हित कर लो।

ज्ञानी जनों की इस प्रकार की सीख को अज्ञानी जीव सुनते नहीं और अन्त में दुःख उठाते हैं। कंस भी ऐसे ही अज्ञानियों में था। वह अपनी भौतिक शक्ति को ही सर्वोपरि समझता था और उसका खयाल था कि इससे बड़ी और जबर्दस्त कोई शक्ति हो ही नहीं सकती। इसी कारण वह सोचता है इस कृष्ण को अगर मार डाला जाय तो सारा झंझट ही मिट जाय। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी !

कितनी बड़ी मूर्खता ! कृष्ण को मारकर कंस अमर हो जाना चाहता है ! उसे नहीं मालूम कि जो दूसरे को मारने का विचार करता है, वह अपने ही मरने की सामग्री जुटाता है।

कृष्ण गोकुल में मौज कर रहे हैं। खूब दूध-दही खाते-पीते हैं और मस्त रहते हैं। ग्वालिनें दही-दूध की मटकियां सिर पर रख कर बेचने ले जाती हैं। कृष्णजी रास्ते में मिल जाते हैं। कहते हैं- जरा दिखलाओ तो कैसा दही है ? ग्वालिनें मटकियां नीचे उतारती हैं और कृष्णजी को शरारत सूझती है। वह दही खा जाते हैं और ऊपर से ग्वालिनों को चिढ़ाते हैं ! कहते हैं- चुंगी तो चुकानी ही पड़ेगी।

ग्वालिनें हृदय से कृष्ण को प्यार करती हैं, उनकी शरारतों से मन ही मन प्रसन्न होती हैं, मगर ऊपर से क्रोध प्रदर्शित करती हैं। कहती हैं—अच्छा देखना हम राजा कंस से तुम्हारी शिकायत न कर दें तो ! तब कृष्ण मुस्करा कर उत्तर देते हैं—मैं पापी कंस को मार कर मथुरा का राज्य दूसरे को दे दूंगा।

बालक कृष्ण के मुख से इतनी बड़ी बात सुन कर ग्वालिनें विस्मित रह जाती हैं और आपस में कहने लगती हैं—बड़ा होकर कन्हैया न जाने क्या करतब दिखलायगा ?

इस प्रकार बाल लीलाएं करते-करते कृष्णजी सोलह वर्ष पार कर चुके। कृष्ण की सारी बातें कंस के कानों तक पहुँच गई। मगर उसकी एक न चली। कृष्ण को मार डालने का एक भी उपाय सफल न हो सका।

कंस की एक बहिन थी सत्यभामा। जब वह विवाह के योग्य हुई तो स्वयंवर का आयोजन किया गया। सब राजाओं के पास आमन्त्रण भेज दिये गये। नियत समय पर निमन्त्रित राजा आये। सबका यथोचित स्वागत किया गया। नियत समय पर सब राजा स्वयंवर मण्डप में पहुँचे एवं पूर्व निश्चित आसनों पर आसीन हो गये।

कंस ने कन्यावरण की एक शर्त रक्खी थी और वह यह थी कि जो सारंग (शार्ङ्ग) धनुष को चढ़ाएगा, उसी के साथ सत्यभामा का विवाह कर दिया जायगा।

वसुदेवजी के एक लड़के अनुधृष्ट कुमार को जोश आया और वह फौरन रथ पर सवार होकर रवाना हो गया। वह रास्ते में नन्द के घर ठहरा और प्रातः काल रास्ता बतलाने के लिए कृष्ण को साथ ले लिया।

गोकुल और मथुरा के बीच का रास्ता बहुत ऊबड़-खाबड़ और खराब था, अतएव रथ रास्ते में फंस गया। कृष्ण ने रास्ते के वृक्षों को गाजर-मूली की तरह उखाड़ कर एक ओर कर दिया और दोनों मथुरा जाकर स्वयंवर मण्डप में पहुँच गए।

सभी राजा अपनी-अपनी वीरता पर भरोसा रख कर बैठे थे। सभी को आशा थी कि सत्यभामा मेरे ही गले में वरमाला पहनाएगी। सब मूछों पर ताव दे रहे थे। अपना अपना रौब गालिब करने की चेष्टा कर रहे थे।

अनुधृष्ट कुमार अभिमान में छका हुआ ज्यों ही धनुष के पास पहुँचा और धनुष को उठाने की चेष्टा करने लगा त्यों ही फिसल कर गिर पड़ा!

राजा लोग अपनी-अपनी हंसी न रोक सके। अनुधृष्ट कुमार लज्जित और निराश हो गया।

सत्यभामा की दृष्टि कृष्ण पर पड़ चुकी थी। उनके रूप-सौन्दर्य में अनूठा ही आकर्षण था। सत्यभामा का चित्त बलात् उनकी ओर खिंच गया और मन ही मन वह कहने लगी—अगर ये इस धनुष को चढ़ा दें तो सोने में सुगन्ध हो जाय! मेरे मन की मुराद पूरी हो जाय।

उसी समय कृष्ण आगे बढ़े। अनुधृष्ट कुमार की जो दुर्दशा हो चुकी थी, उसे देख कर कई राजाओं का जोश ठण्डा पड़ चुका था। कृष्णजी को आगे बढ़ता देख कई राजा पुनः हंसने लगे। वे समझते थे कि यह छोकरा भी क्यों उपहासास्पद बनने जा रहा है! मगर कृष्णजी बड़ी धीर गति से, गम्भीर भाव से, अविचल संकल्प

के साथ गये। उन्होंने धनुष चढ़ा दिया, जैसे कोई बड़ी बात ही न हुई हो। धनुष चढ़ा कर उसे ज्यों का त्यों रख दिया और अपने आसन पर बैठ गये।

कंस के प्राणहर्त्ता शत्रु की जो पहचान बतलाई गई थी, उसमें एक यह भी थी। जब कृष्ण ने धनुष चढ़ा दिया तो कंस को और भी पक्का विश्वास हो गया कि मेरा वास्तविक शत्रु यही है।

कंस ने कृष्ण का काम तमाम करने के लिए एक युक्ति रची। उसने मल्लयुद्ध का आयोजन किया और सब राजाओं को रोक लिया। मल्लयुद्ध देखने के लिए राजा लोग ठहर गये।

वसुदेवजी कंस की चालाकी को समझ गये कि यह क्रूर हृदय कृष्ण को मरवा डालना चाहता है। अतएव उन्होंने समुद्र विजयजी के पास सूचना भेजी कि अंगरक्षकों की एक सेना गुप्त रूप से फौरन मथुरा भेजो। सेना तत्काल रवाना होकर मथुरा आ पहुँची और दर्शकों के रूप में अलग-अलग टुकड़ियों में बंट गई। कृष्ण और बलदाऊ मल्ल युद्ध देखने के लिए आकर उपस्थित हो गये और सब के बीच में बैठ गये।

आगे का वृतान्त यथा समय कहने की भावना है। मगर इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि पुण्यात्मा जीव सर्वत्र विजयी होते हैं। पुण्य ऐसा कवच है कि उसे धारण करने वाले पर कोई विरोधी शक्ति काम नहीं करती।

ब्यावर }
८-६-४१ }

आत्मालोचन

卐

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ ।
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याऽऽश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥

भगवान् श्री ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान, पुरुषोत्तम, लोकोत्तम, सर्वोत्तम प्रभो! कहां तक आपकी स्तुति की जाय? कहां तक आपका गुणगान किया जाय? हे नाथ! आप भुवन के भूषण हैं और जगत के प्राणियों के नाथ हैं। भव्य जीव आपकी सच्चे हृदय से भक्ति, उपासना या स्तुति करते हैं, वे आपके समान ही बन जाते हैं। यह कोई अद्भुत बात नहीं है—इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जो स्वामी अपने सेवक को, वैभव के लिहाज से अपने समान नहीं बना लेता, उससे लाभ ही क्या है? जब सेठ साहूकार आदि संसारी प्राणी भी अपने आश्रित जनों को अपने समान बना

लेते हैं तो फिर आप तो राग-द्वेष से सर्वथा रहित हैं। अगर आप अपने भक्त को अपने सदृश बना लें तो आश्चर्य ही क्या है?

तो जो अपने भक्त को अपने समान बनाने वाले हैं, उन भगवान् श्री ऋषभदेव को ही हमारा बार-बार नमस्कार है।

श्री ठाणांग सूत्र में, भगवान् ने चार प्रकार के हाथियों की तरह ही चार प्रकार के पुरुष बतलाए हैं—

(१) कोई-कोई मनुष्य अच्छे-गुणी भी होते हैं और शोभनीक भी होते हैं।

(२) कोई गुणी होते हैं, पर शोभनीक नहीं होते।

(३) कोई शोभनीक तो होते हैं पर गुणी नहीं।

(४) कोई न गुणी ही होते हैं, न शोभनीक ही।

इस प्रकार जगत के पुरुष चार भागों में विभक्त हैं। जो न युक्त-गुणवान हैं और न शोभनीक ही हैं, उनकी जहाँ देखो वहीं बुराई ही बुराई सुनने को मिलती है। कोई सामने ही बुराई कर देता है तो कोई पीठ पीछे। जो पुरुष गुणवान् और चरित्रवान् होते हैं, उनके सामने कोई किसी की बुराई करे तो वे उस बुराई को पसन्द नहीं करते। कहते हैं—मूर्ख! दूसरे की बुराई करने से वह बुरा नहीं हो जायगा, बुराई करने वाला ही बुरा कहलाता है और बुरा बन जाता है। दूसरे की निन्दा करने वाला स्वयं अपने पांव पर कुठाराघात करता है। रत्नचन्द्रजी स्वामी कहते हैं—

निन्दा मेरी क्या करे रे, दोष बिन सोच न कोय। भाई! सम्पूर्ण जगत गुण-दोषमय है संसार के सभी मनुष्यों में गुण भी

विद्यमान रहते हैं और दोष भी होते हैं। निर्दोष तो एक मात्र वह महापुरुष हैं जो शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि कर चुके हैं; पूर्ण रूप से वीतराग बन चुके हैं। ऐसी स्थिति में, प्रश्न यह है कि हम दूसरों के दोषों को देखें या गुणों को? क्या देखने से हमारा हित होगा?

दूसरों के दोषों को देखना और उनकी बुराई करना स्वयं एक महान दोष है। इसके अतिरिक्त जिसमें दूसरों के दोष ही दोष देखने की आदत है, वह दोषों को देखता-देखता स्वयं दोषों का पात्र बन जाता है। अतएव किसी व्यक्ति के जीवन के संबंध में जब विचार करना हो तो उसके गुणों पर ही विचार करना उचित है। गुणों का विचार करने से गुणों के प्रति प्रीति का भाव उत्पन्न होता है और मनुष्य स्वयं गुणवान बनता है।

शास्त्र में निन्दा और गर्हा करने का विधान तो अवश्य किया गया है, परन्तु आत्मनिन्दा और आत्मगर्हा का ही विधान है। साधक जब साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण होता है तो वह अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है। दोषों का दूरीकरण तभी हो सकता है, जब वह उन्हें समझ ले। अतएव वह अपने दोषों पर विचार करता है और जो-जो दोष उसे नजर आते हैं, उनकी आत्मसाक्षी से और गुरु के समक्ष भी निन्दा करता है। ऐसा करने से उसका जीवन ऊँचा उठता जाता है।

मगर अविवेकी जन अपने दोष नहीं देखते पराये दोष देखते हैं। अपनी निन्दा नहीं करते, परायी निन्दा करते हैं। वे अपने में जो गुण नहीं होते, उनका भी होना प्रसिद्ध करते हैं और विद्यमान दोषों को ढँकने का प्रयत्न करते हैं, जब कि दूसरे में अविद्यमान दोषों का आरोप करके उसके गुणों को आच्छादित करने का प्रयास भी करते हैं।

एक भीलनी पहाड़ में चिरमियाँ बीन रही थी। पास ही मोती भी बिखरे पड़े थे, क्योंकि वहाँ कोई हाथी मर गया था और उसके कुम्भस्थल से मोती निकल कर फैल गये थे। भीलनी मोती छोड़ती जाती है और चिरमियाँ बीनती जाती है। अचानक उधर से एक जौहरी निकल पड़ा। उसने उस मोतियों को चुग लिया और एक-एक मोती पचास-पचास हजार में बेचा। कहा है-

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं,
स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्।
यथा किराति करि कुम्भ जातां,
मुक्तां परित्यज्य बिभर्त्ति गुञ्जाम्॥

जिसे जिस चीज के गुणों का पता ही नहीं है, वह उसकी निन्दा करता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? भीलनी चिरमियों को पहचानती है, पर गजमुक्ताओं की कीमत नहीं समझती। ऐसी स्थिति में वह अगर मुक्ताओं को त्याग कर गुंजाओं से ही अपना शृंगार करती है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जो कद्रदां थे, उन्होंने मोतियों के हजारों रुपये दिये, भीलनी ने उन्हें चिरमियों से भी अधिक तुच्छ समझा, तो क्या मोतियों का मूल्य वास्तव में कम हो गया? नहीं इस प्रकार जिस व्यक्ति में जो सद्गुण विद्यमान हैं, वह तो रहेंगे ही, भले कोई दूसरा उन्हें स्वीकार न करे, उन्हें दोष का रूप दे या उनकी निन्दा करे। गुण तो गुण ही हैं, वे अवगुण नहीं हो सकते।

एक आदमी ने रत्नचन्द्र जी म० से कहा-कई स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित होकर आपके सामने आती और धर्मोपदेश सुनती है। उन पर जब दृष्टि पड़ती है तो आपका मन वश में कैसे रहता होगा?

रत्नचन्द्रजी म० ने शान्त भाव से उत्तर दिया-आपकी कोई बहिन है या नहीं ?

उस पुरुष ने कहा-जी हाँ, एक नहीं पाँच हैं। लखपतियों के घर ब्याही गई हैं।

महाराज-कभी सब इकट्ठी होती हैं ?

वह पुरुष-हाँ रक्षाबन्धन के दिन तो होती ही हैं। वैसे भी कभी किसी विशेष अवसर पर इकट्ठी हो जाती हैं।

महाराज-तो जब तुम्हारी बहिनें वस्त्राभूषण से सुशोभित होकर तुम्हारे सामने आती हैं तब तुम्हारा मन कैसे वश में रहता होगा ?

वह पुरुष-वे तो मेरी बहिनें हैं।

महाराज-जैसे वे तुम्हारी बहिनें हैं और उन्हें देखते हुए भी तुम्हारा मन विकृत नहीं होता-तुम्हारे मन में विषयेच्छा जागृत नहीं होती, उसी प्रकार हमारी दृष्टि में सभी स्त्रियाँ माताएँ और बहिनें हैं। उन्हें देखकर भी हमारे मन में विकार उत्पन्न नहीं होता।

वास्तव में देखा जाय तो विकार देखने में नहीं, मन में है। मन का विकार ही कभी दृष्टि में प्रतिबिम्बित होने लगता है। मन विकार विहीन होता है तो देखने मात्र से द्रष्टा की आत्मा कलुषित नहीं होती।

कहा जा सकता है कि यदि ऐसा है तो शास्त्रों में ब्रह्मचारी पुरुष के लिये स्त्री का चित्र तक देखने का निषेध क्यों किया गया है ? शास्त्र में कहा गया है कि साधु स्त्री के अंगोपांगों का अवलोकन न करे। कदाचित् दृष्टि पड़ जाय तो उसी प्रकार हटा ले जैसे सूर्यबिम्ब पर दृष्टि पड़ते ही हटा ली जाती है। कहा है:-

आप लोग महापुण्यवान् हो कि आपको ऐसा पतितपावन धर्म हाथ लगा है, जिसमें किसी भी पाप को स्थान नहीं है। किसी पापमय जीवन बिताने वाले परिवार में जन्मे होते और यह धर्म हाथ न लगा होता तो चौरासी में चक्कर काटते रहते। कहीं ठिकाना ही न लगता। अतएव इस धर्म की उत्कृष्टता को समझो और अपने भाग्य की सराहना करो और आन्तरिक प्रेम के साथ इसका पालन करो।

एक अंग्रेज मेरे पास आया और कहने लगा—आपका धर्म यदि इतना श्रेष्ठ है सभी लोग इसके अनुयायी क्यों नहीं बन जाते?

मेरे उत्तर देने से पहले ही उसने कहा—संभवतः इस कारण कि इस धर्म के नियमों को सब लोग पकड़ नहीं सकते?

मैंने पूछा--क्यों?

वह बोला--आपके रूल्स् बारीक बहुत हैं। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि मोक्ष वही प्राप्त करेगा जो आपके धर्म के नियमों को अख्त्यार करेगा।

भाइयो! आपको कैसा अपूर्व धर्म मिला है। अन्य मत वाले सच्चे रास्ते को नहीं जानते, तभी तो उन्होंने पाप को भी धर्म मान लिया है। मगर आपके जीवन में तो पैसे की ही महत्ता है। जिस वस्तु के लिए जितने ज्यादा पैसे खर्च किये जाएं, वह वस्तु उतनी ही ज्यादा कीमती आप समझते हैं। धर्म की प्राप्ति के लिए आपको तिजोरी नहीं खाली करनी पड़ी है, अतएव इसका मूल्य भी आप नहीं समझते! दूसरे लोग मुक्त कण्ठ से आपके धर्म का गुणगान करते हैं और आप उसे सामान्य दृष्टि से देखते हैं। यह कितने खेद और परिताप का विषय है।

एक व्यापारी एक गाय बेचने ऐसे देश में ले गया जहां के लोगों ने गाय कभी नहीं देखी थी। जब गाय वहां पहुँची तो मानों बावले गांव में ऊंट आया। एक अद्भुत तमाशा बन गया। वहाँ के लोग उसे देखने के लिए झुण्ड के झुण्ड इकट्ठे होने लगे और पूछने लगे—यह क्या है?

गाय वाले ने कहा—यह पंचामृत का झाड़ है। सब ने मिलकर सामूहिक रूप में पांच सौ रुपये देकर गाय खरीद ली। व्यापारी रुपये लेकर लौट पड़ा। सब लोग गाय के चारों ओर बैठ गये और देखने लगे—अब अमृत दे! अब अमृत दे।

थोड़ी देर में गाय ने गोबर किया। उसे सोने की थाली में झेल कर सबने चरणामृत की तरह थोड़ा-थोड़ा लिया और खाया और थू थू करने लगे।

थोड़ी देर में गाय ने पेशाब किया और उसे भी पी-पी कर सबने थू थू किया।

यह हालत देखी तो लोगों को गुस्सा आया। उन्होंने कहा—व्यौपारी हमको धोखा देकर चल दिया है। मगर अभी बहुत दूर नहीं गया होगा। उसे पकड़ना चाहिये। इस प्रकार निश्चय करते ही कुछ लोग दौड़े और उस व्यौपारी को पकड़ लाए।

उस गांव के मुखिया ने कहा-हमको इसके पांचों अमृत कर दो। हम सौ रुपया और अधिक देंगे।

व्यापारी ने बांटा और चारा मंगवाया और दूध निकाल कर सब को चखाया। उसे चख कर लोग खुश हो गये। तत्पश्चात् उसने आधा दूध जमा दिया और आधे की रबड़ी बना कर खिलाई। प्रातः-काल दही चखाया, छाछ चखाई और फिर मक्खन-घी बना कर चखाया। सब लोग वाह-वाह करने लगे और बोले ऐसे पचास भाड़ और लादो।

कहने का मतलब यह है कि जब तक लोगों को 'गुरु' नहीं मिला, तब तक वे गोबर खाते और पेशाब पीते रहे। सद्गुरु के मिलने पर ही उन्हें सच्चा पंचामृत मिल सका।

तो पुण्यवान् को ही यह मार्ग मिलता है। इसका मूल्य पैसे-टके से नहीं आंका जा सकता। पुण्य से ही उत्तम संयोग मिलते हैं। कृष्ण जी के पुण्य का उदय था तो उन्हें अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती ही गई। उनके पुण्य के सामने पापी कंस की एक न चली। उसे हर बार निराशा का ही मुख देखना पड़ा।

कल बतलाया गया था कि कृष्ण जी को मारने के लिए कंस ने मल्लयुद्ध की योजना की और सभी राजाओं को रोक लिया। उधर कृष्ण जी मल्लयुद्ध में सम्मिलित हुए बिना कैसे रुक सकते थे? उन्होंने यशोदा से कहा--मैया, सुबह पानी गर्म कर देना, हम स्नान करके मल्लयुद्ध देखने जाएँगे।

मैया ने पानी गर्म नहीं किया, उलटी फटकार बतलाई और -वृथा इधर-उधर भटकता फिरता है। शान्ति के साथ घर में क्या होता है!

बलदाऊजी को यशोदा की फटकार अच्छी नहीं लगी। उन्होंने दा मैया को कुछ ऐसे शब्द कह दिये जो कृष्णजी को सहन न

हो सके। माता का पक्ष लेकर उन्होंने बलदाऊ जी से कहा—दूसरा कोई होता तो अभी दूसरी मां का दूध पिला देता। मेरी माता को अनुचित शब्द कहने वाला जीवित नहीं बच सकता।

बलदाऊ जी ने देखा—बाजी उल्टी हो रही है। मैंने कृष्ण का पक्ष लिया और कृष्ण ही नाराज़ हो गया। तब बलदाऊजी ने उसे एकान्त में ले जाकर कहा—कृष्ण, तू अब तक अनजान बना रहेगा? अपनी माता देवकी और पिता वसुदेवजी हैं। यहाँ तो सिर्फ पालन-पोषण के लिए ही तुम रक्खे गए हो।

कृष्ण को यह मालूम हुआ तो बोले—अच्छा, यह बात है? यशोदा माता ने मुझे अपने उदरजात पुत्र के समान ही रक्खा है। उनके किसी व्यवहार से पता नहीं चला कि मैं उनका पालित पुत्र हूं। यह उनकी महत्ता है और वे मेरी दृष्टि में माता ही हैं। मगर अब मुझे करना क्या चाहिए?

बलदाऊजी बोले—कंस अपना जानी दुश्मन है। वह तुम्हें मार डालने के लिए षड्यन्त्र रच रहा है। सुनते हैं, यह मल्ल युद्ध भी इसी षड्यन्त्र का एक भाग है।

कृष्णजी यह सब सुन कर अधीर हो गये। कहने लगे—कांटे और शत्रु को जल्दी ही निकाल फैंकना चाहिए। देखूं कंस मुझे मारता है या मैं कंस का विध्वंस करता हूँ।

कृष्णजी और बलदाऊजी दोनों घर से चुपचाप चल दिये। दूसरे गुवालों के साथ जमना में स्नान करके मथुरा पहुँच गये। दरवाजे पर पहुँच कर कंस के हाथियों को मार कर मण्डप में घुस गये। वहां सब के सब एक मंच पर बैठ गये। बलदाऊजी ने कृष्णजी

रक्खा था कि कृष्ण को अखाड़े में ही कब्र खोद देना। किसी प्रकार भी वह अखाड़े से जीवित न निकलने पावे। अब वही मौका आ गया था। अतएव कंस मन ही मन अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा था। उसे अपने मल्ल पर पूर्ण विश्वास था कि वह अवश्य विजयी होगा और मेरे मनोरथ को पूरा करेगा। किन्तु आप जानते हैं कि यह संसार अति विषम है। यहां सब के सभी मनोरथ पूरे नहीं होते। इसीमें संसार की भलाई भी है।

मनोरथ पूर्ति के लिए पुण्योदय की आवश्यकता है। कंस का पुण्य क्षीणता की ओर बढ़ रहा था और कृष्णजी पुण्य की मूर्ति थे। अतएव उनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता था। अगर आप भी अपने मनोरथों की पूर्ति चाहते हैं तो पुण्य का संचय कीजिए। आत्मालोचन कीजिए। ऐसा करने से ही आपका कल्याण है।

ब्यावर }
१-९-४१ }

सुपथ-विपथगामी

卐

दृष्ट्वा भवन्त मनिमेष विलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकरद्युति दुग्ध सिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधेरशितुं क इच्छेत् ।

भगवान् श्री ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान ,पुरुषोत्तम,लोकोत्तम, सर्वोत्तम भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? कहां तक आपके गुणों का गान किया जाय ?

प्रभो ! आप अनिमेष विलोकनीय हैं, अर्थात् जो भव्य पुरुष आपका दर्शन कर लेता है, उसकी यही इच्छा होती है कि जब तक दर्शन होता रहे तब तक आंख का पलक भी न गिराऊँ ! अगर आंखों को टिमटिमाया तो उतनी देर तक दर्शन में बाधा उपस्थित हो जायगी । और जो पुरुष एक बार आपके दर्शन कर लेता है, उसकी आंखों को दूसरी जगह कहीं सन्तोष नहीं होता । आपका रूप इतना मनोहर और आनन्ददायी है कि उसे देख लेने के बाद दूसरा रूप

सुहाता ही नहीं है। जैसे—कोई क्षीर सागर के जल का आस्वादन कर ले तो फिर उसे लवण समुद्र का जल अच्छा नहीं लगता है। इसी प्रकार जिसने आपके मुखारविन्द के सौन्दर्य का पान कर लिया है, उसे अन्य पाखण्डियों को देखने की इच्छा नहीं होती ।

भव्य जीवो ! ऐसे वीतराग प्रभु की उपासना करने का सुअवसर आपको प्राप्त हुआ है । जब भ्रमर भी कागज के फूलों को नहीं सूंघता है, तो आप लोग पंचेन्द्रिय और फिर विवेकशील मनुष्य होकर क्यों भैरों भवानी आदि देवों के पास डोलते फिरते हो ? आप यही तो सोचते हैं न कि ये देवता आपका अनिष्ट दूर करके इष्ट साधन कर देंगे। मगर आपके शुभाशुभ कर्मों के फल नष्ट करने की क्षमता किसी में नहीं है। कृत कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। हां, वीतराग देव की उपासना, भक्ति और स्तुति करने से तीव्र फल वाले अशुभ कर्म भी मन्द फल वाले बन सकते हैं। अतएव यदि अशुभ फल की तीव्रता से बचना है और भविष्य में पूर्ण निष्कर्म-दशा प्राप्त करनी है तो भगवान् ऋषभदेव महायोगीश्वर हैं। इस जगत् में इनसे बढ़कर अन्य कोई नहीं है। ऐसे भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार है।

श्रीठाणांग सूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के रथ बतलाये हैं, यथा—

१—कोई रथ सुपथ पर चलता है, किन्तु कुपथ पर नहीं चलता।

२—कोई सुपथ पर नहीं चलता, कुपथ पर चलता है।

३—कोई सुपथ पर भी चलता है और कुपथ पर भी।

४—कोई न तो सुपथ पर चलता है और न कुपथ पर ही चलता है।

इसी तरह पुरुष भी चार प्रकार के हैं—

१—कोई-कोई पुरुष सुपथ अर्थात् धर्म के मार्ग पर ही चलते हैं, पाप पथ पर नहीं।

२—कोई पाप पथ पर चलते हैं, धर्म मार्ग पर नहीं।

३—कोई दोनों मार्गों पर चलते हैं।

४—कोई दोनों ही पर नहीं चलते।

जो पुरुष धर्ममार्ग को छोड़ कर पाप का पंथ अंगीकार करते हैं, वे अपनी आत्मा के साथ द्रोह करते हैं। अपने आपको अधः पतन के गर्त्त में गिराते हैं। अपने भविष्य को दुःखमय बनाते हैं और कुगति में जाने की तैयारी करते हैं। इसके अतिरिक्त इसी जन्म में वे लोक निन्दनीय होते हैं। लोग कहते हैं—इसने अपने कुल की मर्यादा तोड़ दी। कुल की कीर्ति पर कलंक की कालिमा पोत दी।

जो लोग अपने पूर्वजों की कीर्ति को बढ़ाते हैं, अपने मर्यादानुकूल, नीतिपूर्ण एवं धार्मिक कृत्यों से कुल के यश में चार चांद लगाते हैं, वे उत्तम पुरुष या सपूत कहलाते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो पूर्वजों की कीर्त्ति को बढ़ाते नहीं, पर कम भी नहीं होने देते, उसे ज्यों की त्यों सुरक्षित रखते हैं, वे मध्यम श्रेणी के पुरुष हैं। किन्तु कोई-कोई कुलांगार ऐसे भी होते हैं जो अपने पुरखाओं के यश पर पोता फेर देते हैं। वे स्वयं बदनाम होते हैं और पुरखाओं को भी बदनाम करते हैं। ऐसे लोग जगत में कपूत के रूप में प्रख्यात होते हैं।

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने पूर्वजों के द्वारा संचित शोधन की निरन्तर वृद्धि करे। कम से कम उसे कम तो न होने दे। इसी में उसकी भलाई है और आगे होने वाली सन्तति की भी भलाई है।

जैसे पुत्रों को चार विभागों में विभक्त किया गया है, उसी प्रकार साधुओं के विषय में भी यह विभाग लागू किये जा सकते हैं। कई साधु ऐसे होते हैं जो वीर भगवान् के द्वारा फरमाये हुए मार्ग पर ही चलते हैं, कुमार्ग पर नहीं जाते। वे विरक्ति की प्रबल प्रेरणा से अनगार बनते हैं और अनगार बनने के पश्चात् अत्यन्त अप्रमत्त भाव से संयम और तपस्या में दत्तचित्त रहते हैं। स्वाध्याय और ध्यान में तथा आत्मचिन्तन में ही उनका समय व्यतीत होता है। वे ऐसा कोई कार्य नहीं करते जिसका उनकी आध्यात्मिक साधना से प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध न हो। निरन्तर संयम में ही अपना काल व्यतीत करते हैं। अपने पद के गौरव को बराबर ध्यान में रखते हैं किसी भी वस्तु पर उनकी ममता नहीं होती। जो शरीर पर भी निर्ममत्व होते हैं, वे अन्य पदार्थों पर ममता कैसे धारण करेंगे? शरीर को संयम-पालन में सहायक समझ कर ही उसका पोषण करते हैं। इसी कारण रूखा-सूखा और नीरस आहार करते हैं। पौष्टिक और कामवर्द्धक आहार से बचते हैं। ऐसे आत्मनिष्ठ महात्मा ही भगवान महावीर के मार्ग पर चलने वाले हैं। उनके मुख से वाणी के रूप में अमृत झरता है। उनके सुन्दर मुखमण्डल पर दिव्य सौम्य भाव झलकता है। जो भी पुरुष उनके सम्पर्क में आता है, उसे अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है। वह अपनी आत्मा के कल्याण की कुछ न कुछ खुराक लेकर ही जाता है। यह महात्मा सुपथ पर ही चलते हैं, कभी कुपथ पर नहीं चलते।

मगर कई ऐसे भी होते हैं जो सुख का माल खाने के लिए साधु का वेष तो धारण कर लेते हैं परन्तु यही नहीं समझते कि

संयम किसे कहते हैं और किस प्रकार उसकी आराधना करना चाहिए ? वे खाते-पीते और बातों में ही समय नष्ट करते हैं। दुनियादारी की बातों से उन्हें अवकाश नहीं मिलता। न स्वाध्याय का ठिकाना और न ध्यान का ! स्वाध्याय और ध्यान की योग्यता ही उनमें नहीं होती।

कई एक साधुवेशधारी तो ऐसे भी होते हैं जो संयम की किसी भी क्रिया का पालन नहीं करते। गृहस्थाश्रम में तो कोई व्यसन नहीं था, मगर जब से साधु बने, तब से सभी नशे करने लगे। उन्हें जीव और अजीव का भी ज्ञान नहीं होता, अतएव वे वनस्पतिकाय का, अग्निकाय का, और जलकाय आदि का निस्संकोच रूप से आरंभ करते हैं और पाप के भागी होते हैं। शास्त्र में कहा है कि जिसे जीव-अजीव का भी विवेक नहीं है, वह संयम का किस प्रकार पालन कर सकता है ?

जो जीवे वि न याणइ, अजीवे वि न याणइ ।
जीवा जीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीउ संजमं ?

जो जीवे वि वियाणइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीउ संजमं ॥

—दशवैकालिक अ. ४

तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष को यही ज्ञान नहीं है कि वनस्पति सजीव है, जल के एक-एक बिन्दु में असंख्यात—असंख्यात जीव हैं और तेजस्काय भी असख्य जीवों का पिण्ड है, वह इनकी रक्षा करने की चिन्ता नहीं करता। इसी प्रकार जिसे अजीव का भी ज्ञान नहीं है, ऐसा अज्ञ जीव संयम के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ सकता। संयम के असली स्वरूप को तो वही जान सकता है,

जिसे जीव और अजीव का समीचीन बोध होगा। वही जीवहिंसा से बच सकता है। आप जानते हैं कि साधु के समग्र आचार-विचार का प्राण अहिंसा है। जो अपने जीवन में अहिंसा की ठीक-ठीक साधना कर लेगा, वही साधु के आचार का सम्यक् प्रकार से पालन कर सकेगा। जिसने अहिंसा का पालन करना नहीं जाना, उसने साधु के आचार को भी नहीं समझा। सत्य, अस्तेय आदि व्रत अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए हैं। अतएव अहिंसा के होने पर ही उनकी शोभा है। अहिंसा के अभाव में बिना अंक के शून्यों की भाँति उनका कोई महत्त्व नहीं है।

जो जो अहिंसा के स्वरूप को समीचीन रूप से न जानते हैं, न जानने का प्रयत्न करते हैं और न अन्य क्रियाओं का यथावत् पालन करते हैं वे साधु का वेष धारण करके भी सुपथगामी नहीं हैं। वे कुपथ पर चलते हैं और अपना अकल्याण करते हैं।

कई साधु ऐसे भी होते हैं जो धर्म के लिए प्राण तक त्याग देंगे, मगर धर्म नहीं त्यागेंगे।

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया—भगवन्! यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि या तो धर्म की ही रक्षा हो सकती है या जीवन की ही रक्षा, और उस परिस्थिति में यदि कोई पुरुष धर्म की रक्षा को ही पसन्द करे और प्राणों का उत्सर्ग कर दे तो वह पाप का भागी है या धर्म का?

भगवान् कहते हैं—देवानुप्रिय! धर्म की रक्षा के लिए मरने वाले प्राणी को उतना ही धर्म होता है जितना तपस्या एवं धर्मध्यान करने वाले को। धर्म के लिए ही साधु जीवन धारण करता है। जिस जीवन में धर्म की साधना न हो सके, वह जीवन वृथा है। ऐसा

जीवन या तो विषयवासना की पूर्ति के लिए है अथवा प्राणों के मोह के कारण। साधु में यह दोनों चीजें नहीं होती। अतएव वह धर्म-हीन जीवन यापन करना पसंद नहीं करता।

आत्मघात करना पाप है और घोर पाप है, क्योंकि वह तीव्र-तर कषाय से प्रेरित होता है। मनुष्य जब क्रोध से अंधा हो जाता है और उसके दिमाग में पागलपन भर जाता है, तभी वह आत्मघात करता है। या इसी प्रकार के किसी अन्य विकार की तीव्र स्थिति में आत्मघात कर बैठता है। यह भयानक पाप है। मगर कषायहीन भाव से, शुद्ध धर्म रक्षा की प्रेरणा से जो देहोत्सर्ग किया जाता है, वह आत्मघात ही नहीं है।

कई साधु ऐसे भी होते हैं जो साधु की क्रिया का पालन करते हैं, परन्तु कभी उलटे रास्ते पर भी चलने लगते हैं।

संयम पालन करने का अर्थ है—आत्मिक विकारों के साथ युद्ध करना। आत्मिक विकार अनादि काल से आत्मा को वशीभूत बनाये हुए हैं। जिस आत्मा में जरा भी जागृति नहीं है और जो अपनी निजी सम्पत्ति से सर्वथा अनभिज्ञ है, जो विकारों से पूरी तरह दबोचा हुआ है, उस पर विकारों का पूरा पूरा आधिपत्य होता है। ऐसा आत्मा विकारों से लड़ने में सर्वथा असमर्थ होता है। ऐसे जीव बहिरात्मा की कोटि में गिने जाते हैं।

दूसरे प्रकार के जीव अन्तरात्मा कहलाते हैं। वे बहिरात्माओं से आगे बढ़े हुए होते हैं। उन्हें आत्मिक वैभव का परिज्ञान हो चुका है। आत्मा के स्वाभाविक गुणों को वे पहचान चुके हैं। अपनी पराधीनता को जानते और उसे हेय समझते हैं। अतएव वे उसे दूर करने के लिए उद्योग करते हैं। कोई श्रावक धर्म का और उनसे आगे बढे हुए कोई-कोई साधु धर्म का परिपालन करते

है । सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, अनशन, ध्यान और स्वाध्याय आदि वह शस्त्र हैं जिनके द्वारा विकार रिपुओं को क्षत और नष्ट किया जाता है । परन्तु आप जानते हैं कि जब युद्ध होता है तो कभी कभी विरोधी पक्ष का प्रबल प्रहार होने पर बड़े से बड़े शूरवीर को भी पीछे हट जाना पड़ता है । इसी प्रकार इस आध्यात्मिक युद्ध में भी कभी कोई विकार इतना प्रबल हो उठता है कि साधक योद्धा पिछड़ जाता है । यही कारण है कि कोई-कोई साधु संयम की क्रिया करता-करता कभी कुमार्ग पर चला जाता है ।

कोई-कोई साधु ऐसे भी हैं जो न मार्ग पर चलते हैं और न कुमार्ग पर चलते हैं । उन्हें चलने की आवश्यकता नहीं रही । वे अपनी मंजिल तय कर चुके हैं । आत्मिक युद्ध में पूर्ण और अन्तिम विजय प्राप्त कर चुके हैं । ऐसे कृतकृत्य सिद्ध परमात्मा की कोटि में गिने जाते हैं ।

दूसरे शब्दों में हम यह कहते हैं कि अप्रमत्त साधु रास्ते पर ही चलते हैं, कुमार्ग पर नहीं चलते । द्रव्यलिंगी साधु उलटे रास्ते पर चलते हैं, सीधे रास्ते पर नहीं चलते—वे साधु का वेष तो धारण करते हैं मगर साधु के योग्य क्रिया नहीं करते ।

[illegible] कहना है कि मनुष्य जो वेष धारण करे, उसके साथ आने वाली जिम्मेवारी का भी पूरी तरह निर्वाह करे । ऐसा करने से ही उस वेष की शोभा है । देखो, आज जर्मनी और रूस में लड़ाई हो रही है । यदि दोनों में से कोई भी शस्त्र डाल दे तो वह दूसरे के अधीन हो जाएगा । इसी प्रकार यदि साधु वेष धारण करके चारित्र का पालन न करे तो वह पराजित हो जाता है—वह प्रमाद के वश हो जाता है, उसे विकार रूपी शत्रुओं की गुलामी करनी पड़ती है और पुनः पुनः संसार रूपी कारागार

में बन्द होना पड़ता है। अतएव जो बाना धारण कर लिया है तो उसकी मर्यादा को पूर्णरूपेण निभाना चाहिए। कहा है—

बाना को विरुद्ध दोहलो रे,
थारी शक्ति होवे तो झेलो रे।

किसी राजा की सभा में, मनोरंजन के लिए, एक बहुरूपिया, नाना प्रकार के वेष धारण करके आया करता था। वह जब जो वेश बनाता, उसकी मर्यादा का अच्छी तरह पालन करता था। यही उसकी कला की विशेषता थी।

एक दिन राजा ने कहा—कल तुम शेर का स्वांग बना कर आना। बहुरूपिया ने कहा—शेर का स्वांग बना कर आ तो जाऊँगा, किन्तु यदि किसी ने कह दिया 'डेडी को खाने वाला' तो मुझे सारी क्रिया करके बतलानी पड़ेगी। इससे अगर आपको कोई हानि पहुँच जाय तो मैं जिम्मेवार नहीं हूँ

राजा ने बहुरूपिया की शर्त स्वीकार कर ली। वह दूसरे दिन शेर का स्वांग बना कर आ गया और दहाड़ने लगा। इतने में किसी राजकुमार के मुंह से निकल गया—अरे यह तो डेडी को खाने आया है।

राजकुमार का इतना कहना था कि बहुरूपिया ने उस कुमार को वहीं मार डाला। राजा ने चाहा कि इस पर बन्दूक चला दूँ, मगर उसे कल का अपना बचन याद आ गया और वह कुछ भी न कर सका। तथापि सर्वत्र हाहाकार मच गया। सारी सभा में शोक व्याप्त हो गया।

कुछ दिन बाद मन्त्री ने कहा—इस बहुरूपिया को साधु का वेष बनाने के लिए कहना चाहिए। अगर इसने थोड़ी सी भी चूक की तो हम लोग इसे मार डालेंगे।

राजा वचनबद्ध होने के कारण राजकुमार की हत्या का विषघूंट पी गया था, मगर उसके हृदय से प्रतिहिंसा की भावना दूर नहीं हुई थी। वह चाहता था कि अवसर मिले और इसका काम तमाम कर दिया जाय। अतएव उसे मन्त्री का कथन पसन्द आ गया और उसने बहुरूपिया को साधु का स्वाँग बना कर आने का आदेश दिया।

दूसरे दिन बहुरूपिया साधु का वेष धारण करके आ पहुँचा। वह सच्चे साधु की तरह नीची निगाह से धरती को देखता हुआ, गंभीरता और शालीनता के साथ सभा भवन में आया।

मन्त्री ने एक वस्त्राच्छादित आसन की ओर संकेत करते हुए कहा--इस आसन पर बैठिए।

बहुरूपिया बोला—'कल्पे नहीं'

तत्पश्चात् उसे भिक्षा लेने के लिए अन्तःपुर में ले जाया गया। वहाँ रानियाँ मोतियों, हीरों और मणियों से भरे थाल लिये खड़ी थी। वे उसे बहराने के लिए उद्यत हुई। तब उसने कहा—"कल्पे नहीं"।

इस प्रकार बहुरूपिया साधु की मर्यादा में रहता हुआ बाहर आ गया। राजमार्ग पर पहुँचा तो मन्त्री द्वारा की हुई पूर्व योजना के अनुसार लोग उसे गालियाँ देने लगे और तिरस्कार करने लगे। मगर बहुरूपिया अपनी कला में निष्णात था। उसने अपने चेहरे

पर तनिक भी बल नहीं पड़ने दिये। सच्चे साधु के समान समभाव धारण किये वह अपने घर आ गया।

बहुरूपिया का यह संयत भाव देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसके मन का मैल धुल गया।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी-अपनी मर्यादा का पालन अवश्य करना चाहिए। अगर आप अपने को श्रावक कहते हैं तो आपके लिए यही उचित है कि आप श्रावक की मर्यादा का पूरी तरह अनुसरण करें और उसके विरुद्ध कोई कार्य न करें। इसमें भी अगर आप व्यापारी हैं तो व्यापारिक मर्यादा का निर्वाह करें। व्यापारी का कर्तव्य है, जिसे देना है, ईमानदारी से दें और जिससे लेना है उसे ईमानदारी से ही लें—लेनदेन में बेईमानी न करें। असत्य भाषण न करें। छल-कपट करके ठगाई न करें। अगर कोई न्यायाधीश है तो उसे भी अपनी मर्यादा का पालन करना चाहिए। रिश्वत लेकर या सिफारिश मानकर अन्याय नहीं करना चाहिए, बल्कि दूध का दूध और पानी का पानी करना चाहिए। अगर कोई अध्यापक है तो उसके लिए भी मर्यादाएँ हैं और उनका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। शासक को चाहिए कि वह भी अपनी मर्यादाओं का भलीभाँति निर्वाह करे। प्रजा को सन्तान के समान मानकर उसका पालन करे और उसकी असुविधाओं को अपनी ही असुविधा समझे। यह नहीं कि प्रभुता के मद में छककर अन्याय और अधर्म करने लगे।

प्रत्येक देश में इन सब और इनके अतिरिक्त अन्य वर्गों की आवश्यकता होती है। व्यापारी वर्ग, शासकवर्ग, अध्यापक वर्ग आदि के बिना काम नहीं चलता। किन्तु जहाँ के सभी वर्गों के लोग

अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार चलते हैं उस देश में ही सुख-शान्ति रहती है और वही देश उन्नति करता है।

कंस ने शासक—राजा होकर भी अपनी मर्यादाओं को भंग किया था। यही कारण था कि कृष्णजी को उसका दमन करना पड़ा।

कंस ने कृष्णजी को मारने के लिये मल्लयुद्ध का षड़यन्त्र रचा। कृष्णजी चाणूर नामक मल्ल के साथ लड़ने को तैयार हो गए। यह देखकर कंस ने कहा—इस छोकरे को यहाँ किसने बुलाया है ? अगर यह लड़ना ही चाहता है तो भले लड़े, मगर इसके मरने जीने का यही जिम्मेवर है।

इस प्रकार कह कर कंस ने चाणूर की तरफ साभिप्राय दृष्टि से देखा। चाणूर कंस के अभिप्राय को भलीभाँति समझ गया।

कृष्णजी ने लापरवाही के साथ कहा—मेरी चिन्ता मत करो। शेर के सामने हाथी की जो दशा होती है वही बतलाता हूँ।

मुष्ठिक नामक दूसरा भयानक मल्ल भी वहाँ उपस्थित था। बलदाऊजी उससे मल्लयुद्ध करने को तैयार हुए।

कंस मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहा था कि मेरा आयोजन सफल होने वाला है। चाणूर कृष्ण को मसल कर रख देगा। अब यह जिन्दा नहीं बच सकेगा। मगर जो न्यायी राजा वहां उपस्थित थे, वे बालक के महान् साहस की भूरि-भूरि सराहना कर रहे थे। वे समझते थे कि यह जोड़ी विषम है और इनकी कुश्ती ठीक नहीं है, किन्तु कृष्ण स्वेच्छा से अखाड़े में उतरे थे। अतएव वे सब चुपचाप बैठे तमाशा देखने लगे।

आखिर कृष्णजी चाणूर के साथ और बलदाऊजी मुष्टिक के साथ युद्ध करने लगे। वास्तव में यह दो मल्लों की कुश्ती नहीं थी, अपितु एक दूसरे के रक्त के पिपासु दो-दो महाकाल एक दूसरे का अन्त करने के लिए जी-जान से प्रयत्नशील थे। कंस के मल्लों ने भरसक चेष्टा की कि इन छोकरों को शीघ्र से शीघ्र समाप्त कर दिया जाय, मगर उनकी एक न चली। दोनों ने अपने-अपने सभी दाव-पेंच आज़मा लिये, किन्तु एक भी काम न आया। गुत्थमगुत्था करते दोनों बुरी तरह थक गये। अन्त में कृष्णजी ने चाणूर को और बलदाऊजी ने मुष्टिक को पछाड़ कर मार डाला।

स्वाभाविक था कि कृष्ण की इस महान् और आश्चर्यजनक विजय पर दर्शक राजा लोग खुशी की तालियां बजाते, पर कंस के सामने किसी को ऐसा करने की हिम्मत न हुई। सब लोग स्तब्ध रह गये। नीरवता व्याप्त हो गई।

कंस क्रोध से आगबबूला हो गया। उसने अपनी सेना को आदेश दिया--इन दोनों छोकरों को और साँपों को दूध पिलाने वाले नन्द अहीर को इसी समय यमलोक में पहुँचा दो।

कृष्ण के नेत्र लाल हो गये। इस समय उनका पुरुषार्थ कई गुना बढ़ा हुआ था। उन्होंने कड़क कर कहा---उनको तो पीछे मरवाना। पहले अपनी खैर मना। अपने प्राणों की रक्षा कर सकता हो तो कर ले। भगवान् का नाम लेना हो तो ले।

इतना कह कर वे कंस पर झपटे। मुकुट को फैंक कर और गर्दन पकड़ कर उसे चारों तरफ घुमाने लगे। फिर उसे जमीन पर पटका और छाती पर चढ़ गए। तत्पश्चात् एक पैर मस्तक पर रख कर बोले-नीच, नराधम, पापी! तू इस पृथ्वी का भार है। तेरे पापों

का घड़ा भर चुका है। तूने जिन्दगी भर अन्याय, अनीति और अधर्म करके पापों का पलड़ा भारी कर लिया है। अब तेरे जीवन का अन्त सन्निकट है। जिन्दगी में कभी भगवान् का नाम नहीं लिया, अब चाहे तो ले ले।

इस प्रकार कह कर और मस्तक पर जोर से पैर दबा कर कृष्णजी ने कंस को परलोक का रास्ता दिखला दिया।

इस अवसर पर जरासंध की फौज कृष्ण की ओर लपकी किन्तु उसका सामना करने के लिये समुद्रविजयजी की चुनी हुई सेना तैयार ही थी। उसने छक्के छुड़ा दिये।

उसी समय सत्यभामा ने कृष्ण के गले में वरमाला डाल दी और पति के रूप में उन्हें वरण कर लिया।

समुद्रविजयजी ने दोनों भाइयों को एक रथ में बिठला कर वसुदेवजी के भवन में भेज दिया।

यद्यपि उक्त घटना साधारण नहीं थी, तथापि कंस के अत्याचारों से लोग इतने त्रस्त हो गये थे कि उनका मरना किसी को बहुत अखरा नहीं। राजा लोग कृष्णजी के असाधारण पराक्रम को देख कर चकित, विस्मित एवं मन्त्रमुग्ध से रह गये। सब मन ही मन उनकी वीरता की प्रशंसा करने लगे।

एक ओर तत्कालीन राजाओं पर अपनी धाक जमाने वाला कंस था, चाणूर आदि जैसे मल्ल थे और उसकी विपुल सेना थी और दूसरी ओर श्रीकृष्ण थे। मगर पुण्योदय के कारण उन्हें विजय प्राप्त हुई। यहीं से कृष्ण के जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन आरम्भ हुआ।

ब्यावर
१०–६–४१

शील

卐

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥

भगवान् श्री ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान पुरुषोत्तम, लोकोत्तम भगवन् ! कहां तक आपकी स्तुति की जाय ? कहां तक आपका गुणगान किया जाय ?

प्रभो ! आपका आन्तरिक स्वरूप तो बड़े से बड़े योगियों के लिए भी अगम्य है । उसके विषय में क्या कहा जाय ? किन्तु आपके बाह्य सौन्दर्य की छटा भी अद्भुत है—असाधारण है । देख कर विस्मय होता है कि आपके शरीर को निर्माण करने वाले परमाणु किस लोक से आए होंगे ? इस लोक में तो ऐसे सुन्दर परमाणु कहीं दृष्टिगोचर नहीं । हे तीनों लोकों में अद्वितीय सुन्दर प्रभो ! ऐसा जान

पड़ता है कि जिन परमाणुओं से आपका शरीर बना है, वे परमाणु जगत् में उतने ही थे। अगर वैसे परमाणु और होते तो आपके शरीर के समान किसी और का भी शरीर बना होता। मगर वैसा सुसौन्दर्य सम्पन्न शरीर दूसरा इस जगत् में अन्य नहीं है।

तीर्थङ्कर भगवान् किसी पूर्व जन्म में बीस बोलों में से किसी की उत्कृष्ट आराधना करके तीर्थङ्कर नामकर्म का उपार्जन करते हैं। तीर्थङ्करत्व की प्राप्ति के पीछे जन्म-जन्मान्तर की साधना होती है। कई जन्मों की साधना के परिपाक से तीर्थङ्कर पदवी प्राप्त होती है। पुण्य प्रकृतियां तो ४२ हैं मगर उन सब में तीर्थङ्कर प्रकृति उत्कृष्ट है। तीर्थङ्करत्व की प्राप्ति के समान पुण्योदय दूसरा नहीं हो सकता। इस महान् एवं अद्वितीय पुण्य के उदय से ही तीर्थङ्कर भगवन्तों का सौन्दर्य अनुपम होता है।

तो जिन भगवान् ऋषभदेव की बाह्य शारीरिक सम्पत्ति असाधारण है और आन्तरिक सम्पत्ति भी अनुपम है, उन भगवान् को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

श्रीठाणांग सूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के पुष्प बतलाये हैं, यथा--

(१) कोई-कोई फूल सुन्दर होते हैं, परन्तु सुगन्धयुक्त नहीं होते, जैसे पलाश पुष्प।

(२) कोई-कोई फूल सुगन्धित तो होते हैं, परन्तु सुन्दर नहीं होते, जैसे केवड़े का फूल।

(३) कोई-कोई फूल देखने में भी सुन्दर होते हैं और सुगन्ध-सम्पन्न भी होते हैं, जैसे गुलाब, चमेली, बेला आदि के फूल।

(४) कोई कोई फूल न सुन्दर होते हैं और न सुगन्धित ही होते हैं। जैसे कनेर का फूल।

इसी प्रकार जगत् में पुरुष भी चार प्रकार के हैं, यथा—

(१) कोई-कोई पुरुष रूपवान् होते हैं, मगर शील-सम्पन्न नहीं होते। वे पर स्त्रियों को विकारमयी दृष्टि से ताकते हैं। खान-पान में भक्ष्य-अभक्ष्य एवं पेय-अपेय का विचार नहीं करते। मदिरा जैसे इह-परलोक को नष्ट करने वाले तथा मांस जैसे घोर पाप-जनक पदार्थों के सेवन से भी परहेज नहीं करते। उनमें क्षमा, शान्ति, नम्रता, दयालुता आदि सद्गुण नहीं होते। बात-बात में चिढ़ते हैं, मुख से ज्वालाएं निकालते हैं, दिमाग का पारा सातवें आसमान पर चढ़ाये रहते हैं, अभिमान के मद में छके रहते हैं, अपनी ही अकड़ में नहीं समाते, दूसरों को अकिंचित समझते हैं, दीन-दुखिया को देख कर उनके हृदय में लेश मात्र भी करुणा उत्पन्न नहीं होती।

ऐसे लोग साधु-सन्तों की संगति से बचते रहते हैं, सोचते हैं—हमें सन्तों के उपदेश में ऐसी बातें सुननी पड़ेंगी, जिनके हम शिकार हैं। हमें अपनी बुराई की बुराई सुननी पड़ेगी।

साधु किसी का लिहाज उपदेश के बारे में नहीं करते। वे यह नहीं सोचते कि किसी विशिष्ट या प्रतिष्ठित पुरुष में अमुक दोष है तो उस दोष की बुराई न बतलाई जाए। साधु किसी की प्रतिष्ठा को भंग नहीं करना चाहता, किसी पर आक्षेप नहीं करता और न सभा में किसी के दोषों का प्रकाशन ही करता है, तथापि श्रोताओं के जीवन को उन्नत बनाने के लिए जिन बातों की आवश्यकता है, उनका प्रतिपादन तो वह निस्संकोच भाव से करता ही है। वह भी

व्यक्तिगत रूप से नहीं, सामूहिक रूप से कहता है। आदेश के अन्त में अपने आशय को वह स्पष्ट भी कर देता है।

साधु तो समुच्चय कहे, कोई मत लीजो ताण।
राग द्वेष करज्यो मती थाने सुणयारो परमाण॥

साधु किसी आदत की बुराई बतलाता है तो किसी खास व्यक्ति को लक्ष्य करके नहीं, वरन् सर्वसाधारण को लक्ष्य करके। अतएव यह स्पष्टीकरण कर दिया गया है कि कोई उसे अपने लिए ही न समझे।

भाइयों ! साधु के समान सच्चा कहने वाला दूसरा, कोई नहीं मिलेगा। साधुओं को किसकी परवाह है ? हम में कोई दुर्व्यसन या ऐब हो तो हम परवाह करें। पर साँच को आंच क्या ? हमारे लिए तो वही मालदार है जो अधिक धर्मध्यान करता है, अन्यथा सब पांगले ही पांगले हैं।

हाँ, उपदेश देते समय हमारी मुख्य चिन्ता यही रहती है कि कोई शब्द या वाक्य ऐसा न निकल जाय जो भाषा समिति का बाधक हो। हमारा कथन श्रोता के चित्त में व्यथा उत्पन्न करने वाला न हो, किसी प्रकार से अनर्थकारी न हो।

तात्पर्य यह है कि जो लोग रूपवान् तो हैं मगर शीलवान् नहीं हैं, वे साधुओं के उपदेश में आने से भी बचते हैं। मगर उनकी भलाई तो इसी में है कि वे संतसमागम करें और अपने जीवन को शील से विभूषित करें।

दूसरी श्रेणी में वे लोग हैं जो रूपवान् तो नहीं, मगर शीलवान् हैं। उनका जीवन आचारनिष्ठ होता है और उनके व्यवहार में भी

शील झलकता है। उनके परिवार का वातावरण ऐसा निर्मल होता है कि बालक भी बिना उपदेश के, बड़ों के व्यवहार देख कर ही सुशील बन जाते हैं। यहाँ तक कि उनके नौकर-चाकर भी सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। अगर न हुए तो वे श्रावक किस काम के ?

शीलवान् पुरुष की सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है। वह जहाँ कहीं सभा-समूह में खड़ा हो जाता है, आदर पाता है और लोग उसकी बात मानते हैं। कहा है—

तारीफ फैले मुल्क में, एक शील के परताप से।
सुरेन्द्र नमे कर जोड़ के, एक शील के परताप से ॥टेर॥
शुद्ध गंगाजल जैसा, चिन्तामणि सा रत्न है,
लो स्वर्ग मुक्ति भी मिले, एक शील के प्रताप से ॥१॥
आग का पानी बने, हो सर्प माला पुष्प की।
जहर का अमृत बने, एक शील के परताप से ॥२॥
विपिन में बस्ती बने, हो सिंह मृग समान जी,
दुश्मन भी किंकर बने, एक शील के परताप से ॥३॥
चन्दनबाला कलावती, द्रौपदी सीता सती,
सुखी सुई मैना सती, एक शील के परताप से ॥४॥
गुरु के प्रसाद से, करे चौथमल ऐसा कथन,
सुर सम्पति उसको मिले, एक शील के परताप से ॥५॥

यह शील की महिमा है। शील के अचिन्त्य प्रभाव से स्वर्ग मोक्ष की भी प्राप्ति होती है तो अन्य वैभव की तो बात ही क्या है।

शील मनुष्य का सर्वोत्तम आभूषण है। जिसे यह आभूषण प्राप्त है, वही सराहनीय होता है। सुवर्ण और मणियां शरीर को

विभूषित करते हैं, मगर वह विभूषा अनर्थ का ही कारण है। विभूषा करने वाले में अहंकार उत्पन्न होता है और देखने वालों के चित्त में विकार पैदा होता है। दोनों के लिए वह हानिकारक है। मगर शील आत्मा का भूषण है और उससे सभी को लाभ होता है, मगर हानि किसी को नहीं होती।

रूप प्राप्त करना आपके हाथ की बात नहीं है। वह पूर्वोपार्जित नाम कर्म के आधीन है। किन्तु शील प्राप्त करने का प्रयत्न तो आप कर ही सकते हैं। वह तो आपके ही हाथ में है। मनुष्य-जन्म की सार्थकता शीलवान बनने में ही है। क्योंकि—

न मुक्ताभिर्न माणिक्यैर्न वस्त्रैर्न परिच्छदैः।
अलङ्क्रियेत शीलेन, केवलेन हि मानवः॥

मनुष्य की सच्ची शोभा शील से ही होती है, न मोतियों से, माणिकों से और न वेषभूषा से।

अतएव मानवजीवन को शील के आभूषणों से ही भूषित करना चाहिए।

तीसरे प्रकार के पुरुष वे हैं जो रूपवान् भी होते हैं और शीलवान् भी होते हैं। वे चाहे राजा के मंत्री हों या कामदार हों, न्यायाधीश हों, व्यापारी हों या अन्य कुछ भी हों, धर्म से कदापि भ्रष्ट नहीं होते। उनके प्रत्येक कार्य में धार्मिकता का पुट रहता है। अगर बड़े आदमी धर्म को छोड़ दें और धर्म को नहीं दिपावें तो वे बड़े आदमी किस काम के ?

पूज्य उदयसागरजी महाराज के समय की बात है। चित्तौड़ में एक हाकिम साहब थे। उनको उदयपुर के महाराणा साहब की तरह लवाजमा रखने का अधिकार था। जावद में जब पूज्य उदय-

सागरजी म० का चौमासा था तब वे हाकिम सा० उसी लवाजमे के साथ दर्शनार्थ गये थे। पहले के राजा लोग पूरी तैयारियों के साथ दर्शन करने जाया करते थे, क्योंकि आडम्बर से भी धर्म का उद्दीपन होता है। कई जगह व्याख्यान के पश्चात् धर्मप्रभावना बांटी जाती है। इससे भी कई मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, बन सकते हैं। कभी-कभी तो साधु तक बन जाते हैं। परन्तु यह तो स्थान स्थान की परिपाटी है।

यों तो जिनशासन संबंधी माहात्म्य को प्रकाश में लाना और अज्ञान का निवारण करना सर्वोत्तम प्रभावना है, मगर संसार में सभी मनुष्यों का स्तर एक-सा नहीं होता। अतएव प्रभावना के तरीके भी सब के लिए समान नहीं हो सकते।

पहले किशनगढ़ से जयपुर का रास्ता अत्यन्त असुविधाजनक था। साधुओं को आहार-पानी की जोगवाई नहीं मिलती थी। किन्तु कई भाई साधुओं के साथ जाते और व्याख्यान में प्रभावना बांटते थे और लोगों को साधुओं का आचार समझाते थे। कई बार ऐसा करने से कई लोग साधुओं के आहार-पानी लेने की विधि समझ गए। रास्ता पहले की अपेक्षा अब सुगम हो गया है, यद्यपि अब भी कतिपय दिक्कतें आती ही हैं।

चौथी श्रेणी के लोग वे हैं जो न शीलसम्पन्न हैं और न रूप सम्पन्न ही हैं। वे चलते आदमी को मार डालें तो फिर जानवर की तो बात ही क्या है?

भाइयों! आपको विचार करना चाहिए कि महान् पुण्योदय से हमें आर्य देश, उच्च कुल और उत्कृष्ट धर्म की प्राप्ति हुई है। इस लम्बे-चौड़े संसार में कितने भाग्यवान् हैं जिन्हें यह सामग्री प्राप्त हो।

आज दिन फलियो रे २, मारे जोग,
थांने जोग बोल यो दम को मिलियो रे ॥ टेर ॥
मनुष्य जन्म और आर्य भूमि,
उत्तम कुल को योगो रे ।
दीर्घ आयु और पूर्ण इन्द्रीय शरीर निरोगो रे ॥ १ ॥

मनुष्य जन्म मिल गया, आर्य भूमि मिल गई! कीड़े-मकोड़े आदि कुछ और हुए होते तो यह आनन्द कहां रक्खा था? मनुष्य होकर भी म्लेच्छ हुए होते तो मनुष्य होना न होने के समान ही था। आर्य क्षेत्र पाकर भी किसी नीच-अधार्मिक कुल में जन्म होने पर भी आत्मा का कल्याण नहीं किया जा सकता। सौभाग्य समझो कि तुम्हें कुल भी ऐसा उत्तम मिल गया है। उत्तम कुल पाकर भी कोई-कोई जीव अत्यन्त अल्प आयु वाले होते हैं। कई तो गर्भ में ही मर जाते हैं, कई बचपन में और कई जवानी में चल बसते हैं। वे भी मानव जीवन का पूरा लाभ नहीं उठा सकते। कई लोगों को आयु लम्बी मिल जाती है तो उनका 'शरीरं व्याधिमन्दिरम्' होता है। कभी कोई और कभी कोई बीमारी उन्हें सताती ही रहती है और वे आर्त्त-ध्यान में ही अपना समय व्यतीत करते हैं। चित्त में शान्ति नहीं रहती तो धर्म ध्यान क्या करेंगे?

मगर भाई, आप बड़े भाग्यशाली हैं जो आप इन सब विघ्न बाधाओं को पार करके ऐसी स्थिति में हैं कि अगर चाहें तो आत्मा का कल्याण कर सकते हैं।

इस सब के उपरान्त भी आपको वीतराग देव द्वारा प्ररूपित धर्म प्राप्त हो गया है, यह बहुत बड़ा लाभ है। फिर पंच महाव्रत-धारी और कंचन-कामिनी के त्यागी गुरू का भी संयोग मिलना कम सौभाग्य की बात नहीं है। यदि दूसरे कोई साधु मिल जाते तो

भगत ने कहा-अगर आप सब चाहें तो मैं ले चल सकता हूँ। मुझे दोहरा लाभ मिलेगा। तीर्थयात्रा कर भी आऊंगा और करा भी आऊंगा।

अन्धे बोले—भैया, तुम जीते रहो। अगर हमारी यह सहायता कर सकते हो तो और चाहिए ही क्या? रुपया-पैसा हमारे पास है, सिर्फ साथ चाहिए।

भगत ने कहा—अवश्य मैं आपकी सहायता करूंगा। और आपका बोझ हल्का कर दूंगा।

सातों अन्धे तैयार हो गये। ठग भगत ने एक की उंगली पकड़ी और दूसरों को लकड़ी पकड़ा दी और सब रवाना हो गये। चलते-चलते एक घना जंगल आया तो अन्धों ने ठग को विश्वास पात्र समझ कर अपनी अपनी पूंजी सम्भला दी। ठग ने सबको लकड़ी पकड़ा कर एक पेड़ के चारों तरफ चलने को कह दिया और आप चम्पत हो गया।

उधर से कोई मुसाफिर निकलते और उन अन्धों को ऐसा करने से रोकते तो वे मानते नहीं, बल्कि उन पर पत्थर फैंकते। इस प्रकार तीन दिन उन्हें चक्कर काटते काटते हो गये। भूख-प्यास से पीड़ा पा रहे थे और चक्कर खा रहे थे। तब एक अत्यन्त दयालु मुसाफिर ने उन्हें हिम्मत करके सारी बात समझाई और लेजा कर उन्हें बसती में पहुँचाया।

अभिप्राय यह है कि वह ठग भगत उन अन्धों की पूंजी भी उड़ा ले गया और उन्हें घूमते रहने का सबक भी सिखा गया। यही इस जगत में हो रहा है। यहां लोभी, लालची और धूर्त लो

कमी नहीं हैं। वे साधु का बाना पहन कर लोगों को धोखा देते हैं। उनका माल भी हड़प लेते हैं और उन्हें चौरासी में चक्कर काटते रहने की शिक्षा भी दे जाते हैं। किन्तु आपका पुण्य सिकन्दर है कि आपको पंच महाव्रतों के धारक, निर्लोभी गुरु का संयोग मिला है। यह अवसर पाकर आपको गुलाब के फूल के समान सुन्दर और सुगन्धित बनना चाहिए, अन्दर से भी और बाहर से भी पवित्र होना चाहिए। ऐसे मत बनो कि बाहर से तो भले, सत्पुरुष दीखो और भीतर पोल ही पोल हो। इससे कदाचित क्षणिक स्वार्थ सिद्ध हो जाय, मगर आगे चल कर आपकी आत्मा को भारी विपदा का सामना करना पड़ेगा।

कंस दीखने में तो सुन्दर था, मगर अन्दर विषमय था। उसके हृदय में हलाहल जहर भरा था। उसकी जीवनी अत्याचारों और अन्यायों की कहानी है। जो पुरुष अपने जन्मदाता पिता के साथ द्रोह कर सकता है, वह अन्य के साथ द्रोह करने से कैसे चूक सकता है? जिसने अपनी सहोदरा बहिन के पति के साथ घोर कपट किया और पुत्रों को अपनी समझ में पिशाच की तरह मार डाला, उसका जीवन कितना अधम और नृशंस होगा, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है। जो अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए अपने आत्मीयजनों के प्राण लेना हँसी-खेल समझता हो, वह दूसरों के प्रति सौजन्यपूर्ण व्यवहार करेगा, ऐसी सम्भावना भी नहीं की जा सकती।

कितना अज्ञानी था कंस! वह अमर होने के लिए पागलपन के साथ चेष्टा कर रहा था। कृष्ण को इस संसार से विदा कर देना चाहता था, इसलिए कि उसे मारने वाला कोई न रहे और वह अनन्त काल तक राजकीय सुखों का उपभोग करता रहे। उस मूर्ख को पता नहीं था कि मनुष्य की जिन्दगी परिमित काल तक ही रहती

है। जगत अनादि काल से है और मनुष्य भी सदा से होते आ रहे हैं। इस पृथ्वीतल पर बड़े-बड़े सूरमा चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्त्ती आदि सम्राट् हुए, मगर एक दिन सभी को कोरे हाथ जाना पड़ा। वे अपने अपार वैभव में से एक फूटी कौड़ी भी साथ न लेजा सके। उनकी सेना और परिवार उनकी रक्षा करने में समर्थ न हो सका उनका हजारों पत्नियों का अन्तःपुर अपने प्राणप्रिय पति को बचा नहीं सका। सब देखते रह गये। ऐसी स्थिति में क्या अकेला कंस ही अमर रह जाता? जिनको 'अमर' कहते हैं, वे देवता भी आयु पूर्ण होने पर मर जाते हैं, तो 'मर्त्य' का क्या ठिकाना है! परन्तु कंस तो प्रगाढ़ मोह से ग्रस्त था। उसकी विचार शक्ति उलटी ही उलटी दिशा में जाती थी। उसका विवेक विलुप्त हो गया था। स्वार्थ के पर्दे ने उसके नेत्रों को बेकार कर दिया था। वह वास्तविकता का विचार ही नहीं कर सकता था।

कंस जैसे अविवेकी और पापी मनुष्यों का जैसा अन्त होता है, वैसा ही उसका हुआ। दूसरों को मारने की योजना करने वाला स्वयं मारा गया। उसके मरने पर लोगों ने सन्तोष की सांस ली और कहा—चलो, इस धरती का थोड़ा बोझ कम हुआ।

उस समय वसुदेवजी ने सभा में खड़े होकर कहा—अयवन्ता मुनि ने जो भविष्यवाणी की थी, आज वह सत्य सिद्ध हो गई। उन्होंने भविष्यत् को देख कर कहा था—देवकी रानी के उदर से आठ पुत्र उत्पन्न होंगे और सातवाँ पुत्र कंस का प्राणहरण करेगा। कंस ने देवकी के छह पुत्रों के प्राण लिये, इसके बदले कृष्ण ने एक कंस का ही वध किया है।

कुछ लोगों को भ्रम हो सकता है कि मुनि की भविष्यवाणी के कारण कृष्ण ने कंस का वध किया, मगर तथ्य यह नहीं है। भवि-

व्यवेत्ता वही भविष्यवाणी करता है। जैसी भवितव्यता उसे अपने ज्ञान में आगे चल कर होने वाली दिखाई देती है। हम किसी भूतकालीन घटना का वर्त्तमान में वर्णन करते हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि वर्तमान में वर्णन करने के कारण भूतकाल में वह घटना घटी थी। बल्कि वह घटना घटी थी, इस कारण हम उसका वर्णन करते हैं। इसी प्रकार वर्त्तमान में, भविष्यत्कालीन घटना का कथन करने का अर्थ यह नहीं कि कथन करने के कारण वह घटना घटित होगी, बल्कि वह घटना घटने वाली है, इस कारण उसका कथन किया गया है। अतएव उस घटना के कारण, अयवन्ता मुनि नहीं है। उन्हें तो अपने अतीन्द्रिय ज्ञान में जो मालूम पड़ा, वह कह भर दिया था। अगर कंस में विवेक-बुद्धि होती तो वह उससे लाभ उठा सकता था। अवसर पाकर आत्मकल्याण कर सकता था, मगर अपनी दुष्ट बुद्धि के कारण वह भविष्य को जान कर भी कुछ लाभ न उठा सका। सच है, भवितव्यता के अनुसार बुद्धि का परिणमन हो जाता है।

वास्तव में कंस का सारा जीवन ही अत्यन्त कलुषित और पापमय था। ऐसी स्थिति में उसका अंतिम जीवन धर्ममय बन जाना कठिन था। यही हुआ भी। वह आर्त्त—रौद्रध्यान के वशीभूत होकर मरा और पाप का संचय ही कर गया।

कंस का वध होते ही तहलका मच गया। जब अन्तःपुर में यह समाचार पहुँचा तो जीवयशा का हृदय विदीर्ण-सा हो गया। उसकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया। वह अपने आपको निरा-धार, निराश्रय और अनाथ समझने लगी। मगर कृष्ण के ऊपर उसे इतना क्रोध आया कि जिसकी हद नहीं। उसने मन ही मन संकल्प किया कि जिसने मेरे पति का वध किया है, उस कृष्ण का वध करवा कर ही रहूँगी।

जवयशा को अपने पिता का स्मरण आया और कुछ तसल्ली हुई। उसका पिता जरासंध था जो उस समय का शक्तिशाली राजा था। वह उसके पास भागी। जरासंध को सब वृत्तान्त सुनाया। उसने अयवन्ता मुनि के आने, भविष्यवाणी करने आदि से लेकर कंस के वध तक की सारी कथा कह सुनाई और अन्त में कहा — पिताजी! मैं विधवा हुई और मेरा सुहाग लुट गया। वह इस जीवन में फिर आने वाला नहीं है। मगर बड़े शोक की बात यह है कि आप जैसे समर्थ और पराक्रमी पिता के मौजूद रहते मेरी यह दुर्दशा हुई और मेरे पति का वधकर्ता अब भी सकुशल बैठा है। अगर उससे समुचित बदला न लिया गया तो आपकी प्रतिष्ठा कैसे रहेगी? आपकी अपार शक्ति और फिर क्या काम आएगी?

कंस वध का वृत्तान्त जानकर और अपनी पुत्री के उत्तेजक वचन सुन कर जरासंध के क्रोध का पार न रहा। उसके नेत्रों से जैसे रक्त टपकने लगा। उसने अपनी बेटी को सान्त्वना देते हुए कहा —बेटी, धैर्य धारण करो। मृतक को जीवित करने की शक्ति तो परमात्मा में भी नहीं है, मगर तुम्हारे पति की हत्या करने वाला इस भूतल पर नहीं रह सकेगा, यह निश्चय जानो। मेरे प्रताप की अग्नि में उसे भस्म होना ही पड़ेगा। संसार की कोई भी शक्ति उसे नहीं बचा सकेगी। मैं शीघ्र ही यथोचित व्यवस्था करता हूँ। तुम चिन्ता मत करो।

जरासंध ने उसी समय सोम नामक राजा को दूत बना कर मथुरा भेजा। कंस के वध के पश्चात महाराज उग्रसेन को मथुरा का राजा बना दिया गया था। सोम राजा मथुरा आया। उसने जरासंध का सन्देश सुनाते हुए कहा—मथुरा में जो घटना घटित हुई है, उससे महाराज जरासंध की क्रोधाग्नि अत्यन्त तीव्रता के साथ भड़क उठी है। यदि उसे शीघ्र ही शान्त करने का उपाय आपकी ओर से न किया गया तो सारी मथुरा उसमें भस्म हो जायगी।

उग्रसेनजी बोले-यह तो धमकी हुई। मगर यह तो बतलाओ कि आपके महाराजा क्या चाहते हैं? क्या कंस को पुनः जीवित देखना चाहते हैं?

दूत जरा अप्रतिभ होकर बोला—नहीं, यह तो संभव नहीं है। किन्तु जिन्होंने कंस का वध किया है, उन कृष्ण और बलदाऊ को हमें सौंप दीजिए।

समुद्रविजयजी ने कहा-क्या करोगे उन्हें लेजाकर? क्या जरासंध को भी कंस के मार्ग पर ही जल्दी जाना है?

दूत बोला—यह महाराज का आदेश है। आपका कर्त्तव्य उस आदेश का पालन करना है। उसके गुण दोष या हानि-लाभ के संबंध में समीक्षा करने का आपका अधिकार नहीं है। अगर आप अपनी कुशल चाहते हैं तो दोनों को सौंप दीजिए।

समुद्रविजयजी बोले—सुनो दूत, दोनों बालक हमारे नेत्रों के तारे हैं और हमें प्राणों से प्यारे हैं। हम उन्हें जरासंध को नहीं सौंपेगे। वापिस जाकर अपने स्वामी को कह देना। कृष्ण का अनिष्ट सोचने का क्या परिणाम होता है, यह दुनिया देख चुकी है। जरासंध को भी अनुभव हो चुका है। फिर भी आश्चर्य है कि उन्हें भान नहीं हुआ।

इसी बीच कृष्णजी भी वहां आ धमके और बोले-क्या तुम और जरासंध भी कंस की मुलाकात के लिए जाना चाहते हो? इच्छा हो तो रास्ता मैं दिखला दूँगा। जाओ जरासंध को कह देना।

दूत मन मार कर चला गया।

ब्यावर
११-६-४१

जाति-कुल सम्पन्नता

卐

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि,
निःशेषनिर्जित जगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलंकमलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥

भगवान् श्रीऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान, पुरुषोत्तम, लोकोत्तम, सर्वोत्तम प्रभो! कहां तक आपका गुणगान किया जाय?

प्रभो! आपके मुखमण्डल की छटा अनूठी है। उसे देखते ही सुर भी प्रसन्न हो जाते हैं और नर भी चकित रह जाते हैं। सर्प, सिंह आदि जहरीले जानवरों के भी मन को वह हरण कर लेता है। आपके मुखारविन्द के लिए तीनों लोकों में कोई उपमा नहीं मिलती इस जगत में अत्यन्त सौम्य, मनोहर तथा दीप्तिमान वस्तु चन्द्रमा है। मगर आपके मुखमंडल को चन्द्रमा की उपमा भी कैसे दी जाय? चन्द्रमा कलंक व मलीन है और आपका मुखमण्डल पूर्णरूपेण

निर्मल है। इस कारण वह उपमा भी योग्य नहीं है। दूसरी बात यह है प्रभात में सूर्योदय होने पर चन्द्रमा की ज्योति एकदम फीकी पड़ जाती है। दिन में वह सूखे हुए ढाक के पत्ते के समान निस्तेज दिखाई देता है। मगर आपके मुखमंडल में यह बात नहीं है। उसमें जो दिव्य कान्ति है, वह सदैव समान रहती है। वह किसी के सामने फीकी नहीं पड़ती। इस प्रकार हम देखते हैं कि आपके मुख-मंडल ने तीनों लोकों की उपमाओं को जीत लिया है।

प्रभो! आपकी वाणी भी सुखकारी और दुखहारी है। उस वाणी के द्वारा सम्पूर्ण सत्य की प्रतीति होती है। वह अमृत से भी अधिक मधुर, गंगाजल से भी अधिक पावन, स्फटिक से भी अधिक निर्मल है। वह अत्यन्त गूढ़ होकर भी अत्यन्त सुगम होती है। सत्य तत्त्व का प्रकाश करने वाली है। अगर आपके मुखारविन्द से वाणी की वह सुधा प्रवाहित न हुई होती तो जगत के तापों से सन्तप्त पुरुषों को कहां शान्ति मिलती ? अगर आपकी वाणी का लोकोत्तर आलोक इस लोक में न फैला होता तो जगत् के भव्य जीव किस प्रकार सन्मार्ग को पहचान पाते ? सारा विश्व सघन अज्ञानान्धकार में ही टक्करें खाता फिरता। धन्य है स्वामिन ! आपकी महिमा!

ऐसे श्री ऋषभदेव भगवान को ही हमारा बार-बार नमस्कार है।

श्री ठाणांगसूत्र में भगवान ने चार प्रकार के पुरुष बतलाए हैं। कोई-कोई पुरुष जाति सम्पन्न होते हैं। परन्तु कुल सम्पन्न नहीं होते।

'जाति' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। जाति का अर्थ जन्म भी होता है और सामान्य भी होता है। मगर यहां इन दोनों अर्थों से भिन्न अर्थ लिया गया है–मातृपक्ष, अर्थात् ननिहाल। इसी प्रकार कुल का अर्थ है-पितृपक्ष। तो बहुत से लोग

ऐसे हैं जिनका मातृपक्ष उत्तम होता है परन्तु पितृपक्ष उत्तम नहीं होता। जाति की उत्तमता उसकी धार्मिकता पर निर्भर है। जिसमें धर्म के संस्कार हों, नैतिकता हो, सदाचार हो, वही वास्तव में उत्तम है। कुल की उत्तमता भी इसी प्रकार से समझना चाहिए।

वर्ण के अर्थ में भी 'जाति' शब्द का प्रयोग किया जाता है। कई लोग समझते हैं कि कोई जाति अपने आप में स्वयं उत्तम है और कोई जाति अपने स्वभाव से हीन है। मगर यह धारणा भ्रमपूर्ण है। किसी वर्ग या वर्ण में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति उत्तम या अधम नहीं होता। शास्त्र में कहा है—

न दीसइ जातिविसेस कोई।

अर्थात् मनुष्य-मनुष्य में जाति की कोई विशेषता नजर नहीं आती। सब की आकृति; शरीर और अंगोपांग समान होते हैं। उत्तम वास्तव में वही है जिसका आचार-विचार उच्चकोटि का है। जो धर्म से विहीन है, दिन-रात पाप में रहता है, जिसमें नीति के गुण भी नहीं हैं, उसने किसी भी जाति या कुल में जन्म क्यों न ले लिया हो, उसे उत्तम नहीं कहा जा सकता। मनुष्य का कल्याण जाति से नहीं गुणों से होगा।

जिस पुरुष का मातृपक्ष और पितृपक्ष उत्तम होता है, उसे अपने जीवन को उच्च बनाने में सुविधा होती है। मनुष्य जैसे वातावरण में पलता और रहता है, प्रायः वैसा ही बन जाता है। यद्यपि कोई-कोई सत्वशाली एवं विशिष्ट व्यक्तित्व से सम्पन्न पुरुष ऐसे भी होते हैं जो खराब वातावरण में रह कर भी अपने जीवन को पवित्र और धन्य बना लेते हैं तथापि ऐसे विरले ही होते हैं, अतएव जाति और कुल की उत्तमता मिलना भी पुण्य का फल है।

संसार में बड़ी विषमता दृष्टिगोचर होती है। कई लोग ऐसे हैं जिनकी माता तो अपने पति के सिवाय दूसरों को पिता, भाई या पुत्र के समान समझती है किन्तु पिता भ्रष्टाचारी होता है जिसकी माता शुद्ध है उसमें नर्माई बहुत होती है और जिसका बाप शुद्ध होता है, उस लड़के में किसी भी काम को अन्त तक पार लगाने की वृत्ति होती है। बाप की खराबी तीन, चार या सात पीढ़ी तक सन्तान में खराबी पैदा करती है। अतएव प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह अपनी और अपनी कई पीढियों तक की सन्तति की भलाई के लिए शुद्धाचारी बने।

कई पुरुष ऐसे होते हैं जो कुलसम्पन्न हैं, किन्तु जातिसम्पन्न नहीं हैं। माता जब कुलक्षणी होती है तो पुत्र में कठोरता बहुत होती है। माता के कुलक्षणों से सारे परिवार में गंदगी फैल जाती है। अतएव माताओं को चाहिए कि वे अपने जीवन को सदाचार और सद्विचार से विभूषित रक्खें और कभी अविवेक को स्थान न दें। सुन्दर शील नारी का सर्वोत्तम आभूषण है। जो महिला शीलवती है, वही श्रेष्ठ है और वही अपनी सन्तान में धार्मिकता के संस्कार डाल सकती है।

कोई-कोई पुरुष जातिसम्पन्न भी होते हैं और कुलसम्पन्न भी होते हैं। वे पुण्यशील जीव हैं जिन्हें पावन आचार-विचार वाला मातृपक्ष और पितृपक्ष प्राप्त हुआ है। जब माता और पिता दोनों शुद्ध हों तो उनके क्यों न ऋषभदेव जैसे पुत्र पैदा हों।

राजपूत की एक लड़की थी। वह प्रतिदिन गायों और भैंसों को पानी पिलाने के लिए तालाब पर ले जाती थी। एक भैंस के पाडा जन्मा तो वह लड़की उस पाडे को अपने हाथों से उठाकर तालाब तक ले जाने लगी। पाड़ा छह महीने का हुआ, तब भी लड़की उसे इसी

प्रकार उठाकर ले जाती। धीरे-धीरे वह एक, दो और फिर तीन वर्ष का हो गया। लड़की फिर भी उसे हाथों से उठा कर ही तालाब तक ले जाती।

एक दिन राणा उदयसिंहजी उस तालाब के पास से निकले। उनकी निगाह उस लडकी पर पड़ी। उसे देखकर राणाजी ने विचार किया-इस लड़की में इतनी ताकत है तो यह बिलकुल शुद्ध होना चाहिए। यह लड़की जिस सन्तान को जन्म देगी, वह यदि लड़का हुआ तो महान वीर होगा।

इस प्रकार विचार कर राणाजी ने उस लड़की की जाति आदि का पता लगवाया और उससे विवाह कर लिया। उसी लड़की ने महाराणा प्रताप जैसे वीर पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिन्होंने भारतीय इतिहास में अपना नाम अमर कर लिया है और जो स्वाधीनता की रक्षा के लिए जीवन पर्यन्त प्रकृष्ट पुरुषार्थ करते रहे। आज भी महा-राणा प्रताप की गुणगाथा गाई जाती है। उनके घोर शत्रु भी उनकी वीरता, धीरता, शूरता, त्याग और साहस की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते थे। विश्व के इतिहास में उनके समान पुरुषरत्न उंगलियों पर गिनने योग्य भी मिलना कठिन है।

कोई-कोई पुरुष ऐसे भी होते हैं जिनके माता और पिता दोनों ही अशुद्ध होते हैं। जब माता और पिता दोनों अशुद्ध हों तो सन्तान के शुद्ध होने की क्या आशा की जा सकती है? जो निरन्तर अशुद्ध वातावरण में रहेगा उसे अशुद्ध संस्कार ही मिलेंगे और परिणाम स्वरूप उसका जीवन भी अशुद्ध ही बन जाना संभव है। इसके कुछ अपवाद हो सकते हैं, तथापि सामान्य तौर पर ऐसा ही होता है।

जिनके माता-पिता दोनों शुद्ध होते हैं, वे यदि साधु-पन अंगीकार कर लें तो धर्म को खूब दिपाते हैं। ऐसे ही शुद्ध परिवार में तीर्थङ्कर जैसे महापुरुषों का जन्म होता है।

प्रत्येक माता-पिता को अपने उत्तरदायित्व का विचार करना चाहिए और समझना चाहिए कि वह बहुत बड़ी शृंखला की एक कड़ी है। अगर उसमें कमजोरी आती है तो सारी शृंखला कमजोर हो जाती है। उसकी कमजोरी एक ओर उसके पूर्वजों के यश को कलंकित करती है तो दूसरी ओर सन्तति में कुसंस्कारों का बीजारोपण करती है। उसकी कमजोरी न मालूम कितनी पीढ़ियों तक बुराई उत्पन्न करती रहेगी। अतएव प्रत्येक पुरुष और स्त्री को सँभल २ कर पाँव रखना चाहिए और ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे कुल मर्यादा का उल्लंघन हो।

एक समय था जब भरत क्षेत्र में सब जुगलिया थे। स्त्री और पुरुष साथ-साथ रहते थे। न परिवार था, न जाति थी, न समाज था, न राजशासन था और न किसी प्रकार की मर्यादाएँ थीं। वर्णव्यवस्था की उस समय कोई आवश्यकता नहीं थी। मगर जब भोगभूमि समाप्त हुई और कर्मभूमि के नवीन युग का सूत्रपात हुआ तो लोगों को अपनी आजीविका के लिए विभिन्न प्रकार के काम करने पड़े। उन कामों के आधार पर वर्ण बन गये और नाना प्रकार के वर्ग जातियों के रूप में गिने जाने लगे। बहुत समय तक ऐसा चलता रहा। बाद में ऐसा भी युग आया कि वर्ण के अनुसार कर्म का नियमन किया गया। यह नियम बना दिया गया कि अमुक वर्ण वाला अमुक-अमुक ही काम करे और दूसरे वर्ण वालों के लिए नियत काम न करे। आज वह मर्यादा भी समाप्त हो चुकी है। अब कोई भी मनुष्य किसी भी काम को कर सकता है। किसी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा है। इस प्रकार वर्णव्यवस्था तो समाप्त सी हो चुकी है, तथापि कुल (पितृ-पक्ष) और जाति (मातृपक्ष) नहीं मिटे हैं। उन्हें शुद्ध बनाये रखने का उत्तरदायित्व प्रत्येक नर-नारी पर है। इससे उनका जीवन पवित्र रहेगा और उनकी सन्तान का भी भला होगा।

जिनका जीवन शुद्ध और पवित्र होता है, उनकी लड़कियां देखो तो इतनी पवित्र कि प्राणान्तक कष्ट आ पड़ने पर भी धर्म से विमुख नहीं होती। अतीत की ओर दृष्टिपात कीजिए। सीता, चन्दनबाला आदि सतियाँ कैसी शीलवती हुई हैं। सीता को अपने जीवन में क्या कम कष्ट सहने पड़े थे? पहले तो उन्होंने राम के साथ वनवास का कष्ट सहन किया। फिर रावण ने उन्हें हरण कर लिया। रावण जैसे शक्तिशाली राजा के चंगुल में फंस कर भी अपने शील को अक्षुण्ण रखना कोई सामान्य बात नहीं थी। सैकड़ों प्रकार की धमकियों और हजारों प्रकार के प्रलोभनों से भी विचलित न होकर उन्होंने शीलधर्म की रक्षा की। बड़ी कठिनाइयों से उनका उद्धार हुआ तो फिर अग्नि परीक्षा देनी पड़ी और वनवास के घोरातिघोर कष्ट सहने पड़े। नवनीत-सी कोमल काया वाली राजपुत्री सीता का लगभग सारा जीवन कष्ट ही कष्ट में बीता। फिर भी वह धर्म पर अटल रही।

चन्दनबाला का जीवन भी इसी प्रकार की कठिनाइयों में गुजरा उन पर एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा संकट आता ही रहा। फिर भी वह वीर नारी अविचल भाव से धर्म पर डटी रही। यही कारण है कि आज हम उनका गुणगान करते हैं और आदर के साथ स्मरण करते हैं।

सुदर्शन सेठ का रूप-सौन्दर्य असाधारण था। शुभ नामकर्म के उदय से उसे ऐसी रूपराशि प्राप्त हुई थी कि उसपर जिसकी दृष्टि पड़ जाती, देखता ही रह जाता था।

सुदर्शन सेठ और राजा के पुरोहित में मैत्री थी। दोनों प्रतिदिन हवाखोरी के लिए साथ-साथ जाया करते थे। एक दिन पुरोहित की पत्नी की दृष्टि अकस्मात सुदर्शन पर पड़ गई। वह सुदर्शन

के मनोहर रूप को देखकर मोहित हो गई और सुदर्शन को चाहने लगी।

भाइयों! कामवासना एक प्रबल विकार है। इस विकार के वशीभूत हो जाने वाला मनुष्य विवेक विहीन हो जाता है। वह अपने कुल की महान् मर्यादा को, लोकलाज को, नीति और धर्म को तिलांजलि दे बैठता है। कहा है—

दिवा पश्यति नोलूकः, काको नक्तं न पश्यति।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो, दिवा नक्तं न पश्यति॥

काम मनुष्य को अन्धा बना देता है और ऐसा अन्धा कि जिसकी उपमा मिलना कठिन है। उल्लू दिन में नहीं देख सकता, मगर रात्रि में देखता है। काक रात्रि में नहीं देख सकता, किन्तु दिन में देख लेता है। पर कामान्धजन उल्लू और कौआ से भी गया-बीता होता है। वह न तो रात में देखता है और न दिन में ही।

वास्तव में कामान्ध पुरुष की विचारशक्ति नष्ट हो जाती है। वह अपने शरीर के स्वास्थ्य को नष्ट करता है, मन की शक्ति में पलीता लगा लेता है और परलोक को भी बिगाड़ लेता है। उसे यह भी विचार नहीं रहता कि आखिर मेरा पाप प्रकट होगा तो मेरे स्वजन-संबंधी क्या कहेंगे? मेरे विषय में क्या सोचेंगे?

तो सुदर्शन सेठ को देखकर पुरोहित पत्नी का विवेक नष्ट हो हो गया। उसके चित्त में विकार उत्पन्न हुआ और वह बढ़ता ही चला गया। वह सुदर्शन से मिलने का अवसर देखने लगी।

कुछ दिन बाद ऐसा कोई काम आ पड़ा कि पुरोहित को कहीं बाहर जाना अनिवार्य हो गया। उसने सुदर्शन को जाने से पूर्व सूचित कर दिया कि—मैं कल परदेश जाऊँगा। आप मेरी प्रतीक्षा न करें और न बुलाने के लिए आवें।

पुरोहित के जाते ही पुरोहितानी को स्वर्ण-अवसर मिल गया। उसने सोचा-बहुत दिनों के मनोरथ की पूर्ति के लिए यही अनुकूल अवसर है। उसने मन ही मन पूरी योजना घड़ ली। स्नान किया, सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण किए और पूर्ण शृंगार सज कर तैयार हो गई। दासी उसकी संधी-बदी थी। उससे कहा—अपनी करामात से सेठ को बुला ला। तुझे मनचाहा इनाम मिलेगा।

दासी सेठ सुदर्शन के पास पहुँच कर बोली-सेठजी, पुरोहितजी परदेश जा रहे थे कि चलते-चलते बीमार पड़ गए। उन्होंने आपको शीघ्र ही बुलाया है।

सरल स्वभाव सेठ को क्या पता था छलनी के छल का? उसने सोचा-शरीर का क्या ठिकाना है. इसमें कभी भी किसी रोग का प्रादुर्भाव हो सकता है। अतः उसने पुरोहित के घर जाना स्वीकार कर लिया और घर पर जा पहुँचा।

ज्यों ही सुदर्शन ने पुरोहित के घर में प्रवेश किया, दासी ने भीतर से द्वार बन्द कर दिये। सेठ के पहुँचने से पूर्व ही पुरोहितानी अपने शरीर को वस्त्र से आच्छादित करके पलंग पर लेट गई थी। दासी सेठ को उसी कमरे में ले गई जहाँ वह लेटी हुई थी। सेठ ने पहुँच कर जो आवाज दी तो पुरोहित के बदले पुरोहितानी ने मुस्कराहट के साथ मुँह खोला। वह बैठ गई और तरह २ के हाव-भाव प्रकट करती हुई उसे रिझाने लगी।

सुदर्शन सेठ शीलवान् पुरुष था। उसकी रग-रग में धर्मभावना समाई थी। अतएव इस प्रकार के अत्यन्त नाजुक अवसर पर भी वह अपने धर्म से विचलित न हुआ। उसका मन तनिक भी चलायमान न हुआ। आखिर सुदर्शन ने कहा—पुरोहितानीजी आपका मनोरथ मैं पूरा नहीं कर सकता। यह हाव-भाव मुझपर कोई असर नहीं डालेंगे। आपको अपनी मर्यादा को भूलना नहीं चाहिए। आप मेरे मित्र की पत्नी हैं। मैं मित्र के साथ द्रोह नहीं कर सकता।

पुरोहितानी मन ही मन बहुत लज्जित हुई। उसने समझा—सेठ नपुंसक है। निकम्मा है। यह सोच कर उस ने दासी को बुलाया और सेठ को बाहर निकालने का आदेश दिया। सेठ उस घर में से ऐसे भागा जैसे बिल्ली के मुंह से निकल कर चूहा भागता है।

सुदर्शन के प्रति पुरोहितानी के मन में द्वेष भाव जागृत हो गया। वह उसे नीचा दिखलाने का अवसर खोजने लगी। एक बार उसे ऐसा अवसर मिल भी गया। उसने वहां की रानी अभया को सुदर्शन के रूप की प्रशंसा करके भड़काया। रानी ने सेठ को बुलवाया और उसे अपनी वासना की पूर्ति का साधन बनाना चाहा। पर सेठ था सुमेरु की भाँति अचल। रानी ने निराश होकर और प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर अपने आभूषण तोड़ फैंके और कपड़े फाड़ लिये। उसने हल्ला कर दिया कि यह सेठ मुझ पर बलात्कार करना चाहता था। राजा यह सुन कर आग बबूला हो गया। एक सेठ रानी के प्रति ऐसी धृष्टता करे! राजा ने सुदर्शन को शूली पर चढ़ा देने का हुक्म दे दिया।

सुदर्शन धर्म संकट में पड़ गया। अगर वह अपनी सफाई देता है तो रानी की बदनामी होती है और सफाई नहीं देता तो लोगों की दृष्टि में कलंकित समझा जाता है और प्राणों से हाथ धोता

है। थोड़ी देर तक वह इसी विचार में रहा कि ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए ? परन्तु आखिर इसी निर्णय पर पहुँचा कि एक दिन शरीर त्यागना ही पड़ेगा, तो फिर इसकी रक्षा के लिए क्यों रानी को बदनाम करूं ? और यह निर्णय करके वह प्राण त्यागने को तैयार हो गया।

मगर शील धर्म का प्रभाव निराला है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। सुदर्शन सेठ ने धर्म की रक्षा की तो धर्म ने उसकी रक्षा की। जब वह शूली पर चढ़ाया गया तो दुनिया ने चकित होकर देखा कि शूली ने सिंहासन का रूप धारण कर लिया है ! आखिर धर्म की विजय हुई ! सत्य प्रकट हो गया। सुदर्शन की महिमा सर्वत्र फैल गई। शास्त्र में कहा है—

देव-दाणव-गन्धव्वा, जक्ख रक्खस किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति ते···

देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि देवता भी ब्रह्मचारी पुरुष को भक्ति पूर्वक नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिनका मातृपक्ष और पितृपक्ष उत्तम होता है। उनमें इस प्रकार की धार्मिक दृढ़ता होती है। अतएव जो अपनी सन्तान को शील सम्पन्न और धर्म निष्ठ बनाना चाहते हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे स्वयं ऐसे बनें। अपनी मर्यादा का कभी उल्लंघन न करें।

देखो, कृष्णजी मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं उन्होंने कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। इसके विपरीत कंस ने मर्या

मर्यादा ही नहीं समझा और सदैव उच्छृङ्खल व्यवहार किया। उसने नैतिकता को बुरी तरह कुचला और मन चाहा अत्याचार किया। इसी कारण उसे कुमौत मरना पड़ा।

कल बतलाया गया था कि कंस के ध्वंस के बाद उसकी पत्नी अपने पिता जरासन्ध के पास गई और जरासन्ध के सामने रोना रोया। जरासन्ध ने कृष्ण और बलराम को सौंप देने की मांग की और इस काम के लिए सोम राजा को दूत बना कर भेजा। मगर समुद्रविजयजी आदि ने उसे अपमानित करके लौटा दिया। दूत जरासन्ध को समाचार देने के लिए चला गया।

उसके चले जाने के पश्चात मथुरा के महारथी एकत्र होकर परिस्थिति का विश्लेषण करने लगे। जरासन्ध उस समय अत्यन्त शक्तिशाली राजा था। उसके साथ विरोध या युद्ध करना हंसी-खेल नहीं था। यह भी निश्चित था कि वह चुपचाप नहीं बैठा रहेगा। अपने जामाता के वध का बदला अवश्य लेगा और दूत के अपमान से भी चिढ़ेगा। ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए?

उस समय दरबार में कोष्ठिक नामक एक ज्योतिषी मौजूद था। उसने कहा—आपको चिन्तित होने का कोई कारण नहीं है। अगर युद्ध हुआ तो आपकी विजय निश्चित है। हे यादवो! श्रीकृष्ण कोई सामान्य पुरुष नहीं हैं। वह शत्रुओं को जीत कर भरत क्षेत्र के तीन खण्डों के नाथ बनेंगे. उन्हें अर्द्धचक्रवर्त्ती का पद प्राप्त होगा। जिस कुल में कृष्ण, बलदाऊ और अरिष्टनेमि जैसे श्लाघ्य पुरुष रत्न विद्यमान हैं, उसे भय क्या है? उसका कोई भी राजा विनाश नहीं कर सकता। मगर इस समय आप लोग यदि पश्चिम समुद्र के किनारे चले जाएं तो अति उत्तम होगा। वहाँ जाना भावी समृद्धि

का कारण होगा। जहाँ सत्यभामा का प्रथम पुत्र हो, वहीं निशान लगा देना। आपकी अवश्य विजय होगी।

ज्योतिषी की सलाह मान कर यादव मथुरा से रवाना हो गये।

उधर दूत ने अपने अपमान की बात जरासन्ध को बतलाई। क्रुद्ध तो वह था ही, इस घटना ने आग में घी की आहुति का काम किया। उसने अपने अधीनस्थ राजाओं को एकत्र करके कहा— यादवों ने इन दिनों बहुत सिर उठा रक्खा है। उन्हें कुचल देने की आवश्यकता है। बोलो, तुममें से कौन उन्हें समाप्त करने का बीड़ा उठाता है?

जरासंध के ज्येष्ठ पुत्र काली कुमार ने उत्साहपूर्वक कहा-आज्ञा हो तो मैं यादवों का का कचूमर निकालने को तैयार हूँ। उन्हें नष्ट कर देना कौन बड़ा काम है? आप के प्रताप से ही वह समाप्त हो जाएँगे।

आखिर यादवों के संहार का काम उसे सौंप दिया गया-उसने सेना साथ लेकर यादवों का पीछा किया।

कृष्ण के रक्षक दो देवों ने कालीकुमार को आते देखा तो सोचा— हम लोगों के होते हुए वासुदेव क्यों परेशान हों? हम ही इसे ठिकाने लगा दें तो ठीक रहेगा। यह सोचकर उन्होंने एक पहाड़ पर सैंकड़ों चिताएँ देव माया से प्रज्वलित कर दीं। वहाँ खड़ी-खड़ी एक औरत चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगी।

कालीकुमार जंगल में इस प्रकार का दृश्य देखकर आश्चर्य चकित हुआ। उसकी समझ में नहीं आया कि यह क्या मामला है? तब उसने अपना एक सैनिक रोती हुई स्त्री के पास भेजकर तलाश

करवाया। सैनिक को अपनी ओर आते देखकर बुढ़िया ने अपना कंठस्वर और ऊँचा कर दिया और विलाप करके रोने लगी। सैनिक ने उसे सान्त्वना देकर पूछा—मांजी, यह आग क्यों जल रही है और तुम क्यों रुदन कर रही हो?

बुढ़िया ने आंसू ढारते कहा—तुम लोगों के भय से सब यादव जलकर मर गये। मैं अकेली अभागिनी बच रही हूँ। मुझ पर दया करना।

सैनिक यह शुभ संवाद सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने सोचा-चलो, युद्ध में जूझे बिना ही मनोरथ पूरा हो गया। जल्दी लौट कर कुमार को यह इष्ट समाचार सुनाऊँ और पारितोषिक प्राप्त करूं।

इस प्रकार विचार कर सैनिक कालीकुमार के पास पहुँचा और प्रसन्न मुद्रा में बोला-कुमार! आप जिस प्रयोजन से निकले थे, वह अनायास ही पूरा हो गया।

कुमार—क्या हुआ?

सैनिक-सब यादव आपकी प्रतापाग्नि में भस्म हो गए।

कुमार-पहेली मत बुझा। स्पष्ट समझा कर कह आखिर बात क्या है?

सैनिक ने बुढ़िया की कही सब कहानी कुमार को कह सुनाई। कुमार की प्रसन्नता का पार न रहा। वह स्वयं उस बुढ़िया के पास गया। बुढ़िया ने पुनः वही बात दोहराई। तब काली कुमार ने कहा-

॥ समाप्तम् ॥